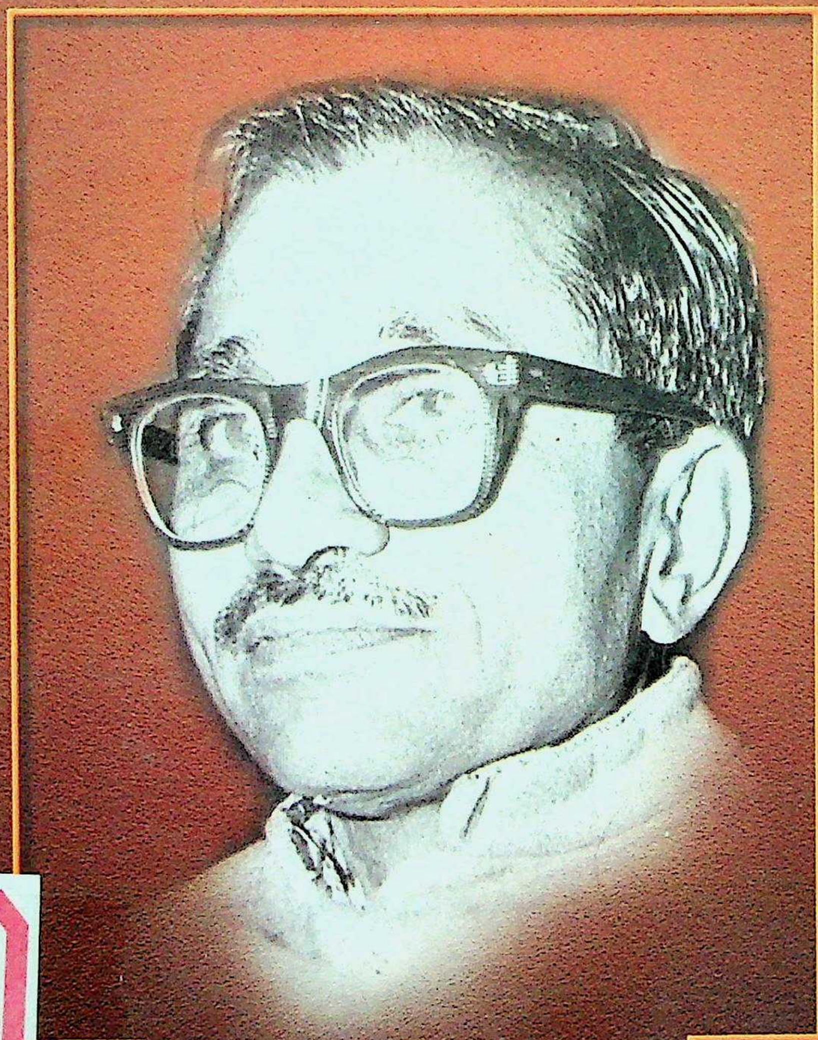
पंडित दीनदयाल उपाध्याय
विचार दर्शन



एकात्म मानव-दर्शन

पंडित दीनदयाल उपाध्याय
विचार-दर्शन

खण्ड - 2

एकात्म मानव-दर्शन

(एकात्म मानववाद का व्याख्यात्मक विवेचन)

विनायक वासुदेव नेने





सुरुचि प्रकाशन
केशव कुञ्ज, झण्डेवाला,
नई दिल्ली - 110055

पं. दीनदयाल उपाध्याय - विचार दर्शन

खण्ड - 2 : एकात्म मानव-दर्शन

लेखक

विनायक वासुदेव नेने

अनुवादक

मोरेश्वर तपस्वी

प्रकाशक

सुरुचि प्रकाशन

केशव कुंज, झण्डेवाला,

नई दिल्ली - 110055

दूरभाष : 011-23514672, 23634561

E-mail : suruchiprakashan@gmail.com

Website : www.suruchiprakashan.in

प्रथम संस्करण : 1986

चतुर्थ संस्करण : जून, 2015

मूल्य : ₹ 80

मुद्रक : मोहित एण्टरप्राइजेज्

ISBN : 978-93-81500-70-5

समर्पण

उन साधकों और कर्मवीरों को,
जो युगों-युगों से चलती आयी
आध्यात्मिक चिन्तनधारा से पोषित
श्रेष्ठ जीवनादर्शों को युगानुकूल
कलेवर प्रदान करने के लिए
कृतसंकल्प हैं।

अनुक्रमणिका

मनोगत

पंडित दीनदयाल उपाध्याय विचार-दर्शन मालिका में 'एकात्म मानव दर्शन' विषय का विवेचन इस विभाग में किया गया है।

इस विषय पर लिखने का निश्चय हुआ तो पहला प्रश्न यह सामने आया कि सन्दर्भ-सामग्री कैसे एकत्रित की जाये। जनसंघ के सिद्धांत और नीति शीर्षक निबंध में यह विषय सूत्र के रूप में आ चुका है। मुम्बई में इस विषय पर पंडित दीनदयाल जी के चार भाषण हुए थे। एक भाषण में उन्होंने इस विषय का सरसरी तौर पर विश्लेषण किया था। एक दृष्टि से देखा जाये तो यह भाषण यद्यपि संक्षेप में है, फिर भी चूँकि वह स्वयं दीनदयाल जी के मुख से प्रकट हुआ है, एकात्म दर्शन पर वह अच्छी और मौलिक टीका है। इस विषय की आत्मा, और पंडित जी के मन में इस विषय के जो विविध पहलू होंगे उनको समझने में इस भाषण से पर्याप्त सहायता मिली। इस भाषण के अतिरिक्त दीनदयाल जी ने शायद इस विषय पर कहीं कुछ लिखा नहीं। कभी-कभार कहीं लिखा भी हो तो विभिन्न स्थानों पर काफी परिश्रम करने के बाद भी वह उपलब्ध नहीं हो सका। काश, प्रदीर्घ कार्यानुभव और प्रगाढ़ चिन्तन के बाद दीनदयाल जी द्वारा प्रस्तुत यह दर्शन उन्हीं की सटीक लेखनी से विस्तारपूर्वक कहीं उपलब्ध होता। तब इस दर्शन का नया और सर्वांग पूर्ण चित्र हमारे सम्मुख आ जाता। किन्तु पंडित जी के असामयिक और आकस्मिक निधन के कारण वह कार्य अधूरा रह गया। यह कमी और

चिन्ता अब सदैव बनी रहेगी।

इस विषय में दीनदयाल जी द्वारा स्वयं लिखा हुआ कोई साहित्य उपलब्ध नहीं है, यह बात स्पष्ट होते ही अन्य दिशाओं में खोज प्रारंभ की गयी। दिल्ली के दीनदयाल शोध संस्थान में सँजो कर सुरक्षित रखा गया साहित्य, पांचजन्य और राष्ट्र-धर्म पत्रिकाओं के अंक, 'राष्ट्र-चिन्तन' और 'राष्ट्र जीवन की दिशा' शीर्षक दो ग्रंथों में संकलित पंडित जी के विविध विषयों पर लेख एवं भाषण, संघ शिक्षा वर्ग में उनके द्वारा दिये गये बौद्धिक आदि साहित्य पर दृष्टि दौड़ायी। यह सब सामग्री उक्त विषय के अनेक पक्षों को स्पष्ट करने में पर्याप्त उपयोगी रही है। इस विषय के संदर्भ में दीनदयाल जी द्वारा श्री बद्रीशाह ठुलधरिया द्वारा लिखित 'दैशिक शास्त्र' शीर्षक ग्रंथ का बड़े आदर से उल्लेख किया गया है। प्राध्यापक पां.कृ. सावलापुरकर ने इस ग्रंथ का अनुवाद किया है। उसे और मूल ग्रंथ को हमने ध्यान से पढ़ा। हमारे विषय का अधिष्ठान स्पष्ट होने में इससे भी बहुत सहायता मिली।

यह विषय जनसंघ के विविध अभ्यास-सत्रों में या चर्चाओं और बैठकों में अन्तिम रूप ले रहा था। उन दिनों उन बैठकों में उपस्थित पुराने कार्यकर्ताओं से हमने चर्चा की, जो काफी उपयोगी सिद्ध हुई। माननीय श्री दत्तोपन्त ठेंगड़ी, श्री प्रभाकर पन्त पटवर्धन, प्राध्यापक गं.भा. कानिटकर; स्व. रामदास कलसकर आदि कार्यकर्ताओं का इस परिप्रेक्ष्य में विशेष उल्लेख करना होगा। कुछ ऐसे भी मित्र हैं जो इस प्रकार की बैठकों में उपस्थित नहीं थे, किन्तु जिन्होंने इस विषय पर गहरा चिन्तन और अध्ययन किया है। ऐसे मित्रों की भी बहुमूल्य सहायता इसमें मिली। माननीय श्री बापूराव भिशीकर, प्रा. अशोक मोडक, विवेक के भूतपूर्व सहसम्पादक रा.प. पणशीकर आदि का नाम-निर्देश इस संदर्भ में महत्त्वपूर्ण है।

इस प्रस्तावना के साथ ही प्रत्यक्ष में जो लेखन हुआ उसके बारे में भी दो शब्द लिखना आवश्यक है। पहली बात यह कि यद्यपि इस दर्शन का उल्लेख 'एकात्म मानववाद' नाम से किया जाता रहा है, फिर भी इस ग्रंथ में उसके स्थान पर हमने 'एकात्म मानव दर्शन' नाम

अपनाया है। विषय का स्वरूप, उसकी व्याप्ति और गहराई को ध्यान में लेते हुए इसे 'वाद' के बजाय 'दर्शन' कहना अधिक सयुक्तिक है, ऐसा हम मानते हैं।

सही अर्थों में यह केवल 'मानव-दर्शन' न होकर एक परिपूर्ण एकात्मक दर्शन है। कारण यह है कि केवल मानव और मानव के बीच के सम्बन्धों का ही नहीं, अपितु मानव और मानवेतर प्रकृति के पारम्परिक एकात्म संबंध का भी समावेश इस दर्शन में होता है। यद्यपि मानवेतर प्रकृति के सभी व्यवहार स्वाभाविक रूप से इस एकात्म प्रकृति-धर्म के अनुसार होते रहते हैं, फिर भी मानव को इस एकात्मकता का नाता प्रयासपूर्वक समझना होता है और उसे ध्यान में रखकर इस एकात्म-धर्म का संवर्धन करना पड़ता है। एकात्म दर्शन में समाये मानव-मानव के संबंधों का ही आगे पृष्ठों में विस्तार पूर्वक और विशेष रूप से विचार किया गया है और इसीलिये इसे हमने एकात्म मानव दर्शन निरूपित किया है।

विषय का विवेचन करते समय एक मोटा सूत्र सामने रखा गया है। यह कि जो पहलू विषय की दृष्टि से अधिक महत्त्व के हैं, उनका कुछ विस्तारपूर्वक प्रतिपादन किया गया है। तुलनात्मक दृष्टि से जो बातें कम महत्त्व की हैं या अधिकांश लोगों को जिनके भलीभाँति ज्ञात होने की संभावना है, उनका प्रतिपादन कुछ संक्षेप से किया है। उदाहरण के लिए पुरुषार्थों का विचार करते समय व्यक्ति के स्तर, समष्टि के स्तर, और व्यक्ति तथा समष्टि के संयुक्त स्तर पर तिहरा प्रतिपादन किया गया है। इसकी तुलना में वर्ण-व्यवस्था और आश्रम-व्यवस्था का विषय संक्षेप में समेट लिया है। विविध प्रकार के सुखों का वर्णन करते समय चूँकि शरीर और मन के सुख की अभिव्यक्ति सामान्यतः सबको होती है, उसका विचार जितना आवश्यक है, किया है। इसके विपरीत बुद्धि का सुख, आत्मा का सुख, अध्यात्म मोक्ष आदि कल्पनाओं को विस्तार के साथ स्पष्ट करने का प्रयास किया है। एकात्म मानव दर्शन का निरालापन और व्यवस्थाएँ अच्छी प्रकार से उभरकर ध्यान में आयें, इस हेतु इस दर्शन के विविध पक्षों का परिचय कराते समय आधुनिक कहलाने वाली

पाश्चात्य विचारधाराओं में से कुछ प्रमुख विचारधाराओं का भी सूत्ररूप में सिंहावलोकन किया है।

यह समूचा विषय मुख्यतः तात्त्विक है। तथापि, क्योंकि दीनदयाल जी के राष्ट्र-विचार, अर्थ-चिंतन और राजनीति के दर्शनों के व्यापक अधिष्ठान पर उसकी रचना हुई है, हमने इस अधिष्ठान को अधिक से अधिक वास्तविक रूप में पाठकों के सम्मुख रखना आवश्यक समझा है। इसीलिये विषय का विवेचन करते समय हमने दीनदयाल जी के न केवल विचार-सूत्रों और उद्धरणों का, अपितु उनके द्वारा प्रयुक्त विशिष्ट पारिभाषिक शब्दों का भी जहाँ-तहाँ मुक्त उपयोग किया है। 'फोडिले भंडार। धन्याचा हा माल। मी तो हमाल। भार वाही।।' यह संत वचन हमारे इस लेख के लिए भी बराबर लागू होता है।

-वि.वा. नेने

1

पृष्ठभूमि

पंडित दीनदयाल जी के हमारे बीच से उठ जाने को अब 18 वर्ष (अब 46 वर्ष) बीत गये हैं।

सन् 1951 में, एक नवस्थापित राजनीतिक दल का दायित्व उनके कन्धों पर आ पड़ा था, जिसे राष्ट्र-निर्माण के नाना कार्यों में से एक कार्य मानकर विशुद्ध भावना से उन्होंने स्वीकार किया था। अति प्रतिकूल परिस्थिति में भी अपनी ज्वलंत ध्येयनिष्ठा, विशुद्ध चरित्र, स्नेहपूर्ण व्यक्तित्व तथा असाधारण संगठन-कुशलता के बल पर उस दल को केवल 15-16 वर्ष की कालावधि में उन्होंने द्वितीय क्रमांक के अखिल भारतीय दल का स्थान प्राप्त करा दिया था। डॉ. श्यामाप्रसाद मुखर्जी ने केवल दो-एक वर्ष के अल्प परिचय में ही उनके बारे में कहा था - "मुझे ऐसे दो दीनदयाल दे दीजिए, मैं सारे देश का नक्शा बदल दूँगा।" श्री मुखर्जी के ये उद्‌गार पूर्णतया यथार्थ थे। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सरसंघचालक श्री गोलवलकर (गुरुजी) ने पंडित जी के राजनीतिक कृतित्व के बारे में अपना जो आकलन दिया था, वह भी इस परिप्रेक्ष्य में स्वयं काफी मुखर है। उन्होंने कहा था - "बिल्कुल नींव के पत्थर से प्रारम्भ कर जनसंघ के कार्य को इतना नाम और इतना रूप देने का श्रेय किसी एक व्यक्ति को देना हो, तो वह दीनदयाल जी

को ही देना होगा।"

दीनदयाल जी का राजनीतिक क्षेत्र में दिखाया गया कृतित्व निस्संदेह असामान्य है, किन्तु उनके व्यक्तित्व का एक और पहलू भी उतना ही - बल्कि उससे भी अधिक-मूल्य का है। वास्तव में देखा जाए तो उनका राजनीतिक कृतित्व और उल्लेखनीय सफलता इस दूसरे पहलू की ही एक अभिव्यक्ति है। वह पहलू यह है कि पंडित जी एक जन्मजात प्रतिभासम्पन्न और मूलगामी चिंतक थे। उनका चिंतन न केवल व्यक्ति-जीवन से लेकर सम्पूर्ण मानव जाति तक का चिंतन है, अपितु मानवेतर प्रकृति और उससे भी आगे जाकर परमेष्ठी तक सबका रचनात्मक दृष्टि से और समग्र रूप से टोह लेने वाला चिंतन है। 'एकात्म मानव दर्शन' उनके मूलगामी रचनात्मक चिंतन की ही अनमोल निष्पत्ति है।

1965 के जनवरी मास में विजयवाड़ा में जनसंघ की अखिल भारतीय प्रतिनिधि सभा का अधिवेशन हुआ था। उसमें दल के 'सिद्धांत और नीति' शीर्षक से जो निबंध स्वीकृत हुआ, उसका प्रारम्भ इस 'एकात्म मानव दर्शन' से ही हुआ है। किंबहुना कहना होगा कि जनसंघ का ध्येय तथा नीति विषयक चिंतन इसी एकात्म मानव दर्शन के अधिष्ठान पर खड़ा था। फिर वह नीति राजनीतिक हो, सामाजिक हो, आर्थिक हो, या जीवन के साथ प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से जुड़े हुए अन्य किसी विषय से संबंधित हो।

विजयवाड़ा अधिवेशन के कोई तीन महीने बाद मुम्बई में 'जनसंघ के सिद्धांत और नीति' विषय पर दीनदयाल जी के चार भाषण हुए। पहला प्रस्ताविक भाषण एक अर्थ में 'एकात्म मानव दर्शन' की अभिव्यक्ति की पृष्ठभूमि विशद करने वाला था। उस भाषण में उन्होंने कहा था-

"जब तक अंग्रेजों का हमारे देश पर साम्राज्य था, देश में चले सभी आंदोलनों एवं राजनीति का लक्ष्य स्वराज्य प्राप्त करना ही था। स्वराज्य मिल जाने के बाद हमारा स्वरूप क्या होगा, हम किस दिशा की ओर चलेंगे आदि विषयों का किसी ने कोई विचार नहीं किया था।

बिल्कुल ही विचार नहीं हुआ था – ऐसा तो नहीं कहा जा सकता। गांधी जी ने 'हिन्द स्वराज्य' में लिखकर स्वाधीनता के बाद भारत का चित्र कैसा रहेगा, इस संबंध में अपने विचार व्यक्त किये थे। उससे पहले लोकमान्य तिलक ने 'गीता-रहस्य' लिखकर स्वाधीनता आंदोलन की तात्त्विक भूमिका का विवेचन किया था। इसके अतिरिक्त काँग्रेस और अन्य राजनीतिक दलों ने समय-समय पर जो प्रस्ताव पारित किये थे, उनमें भी इसी प्रकार के विचार प्रकट हुए थे। परन्तु इस विषय का जितनी गम्भीरता से अध्ययन होना आवश्यक था, वह नहीं हुआ था। इसका एक कारण था। सबके सामने एक ही बात थी कि पहले अंग्रेजों को यहाँ से भगा दें, उसके बाद अपने घर की रचना कैसी हो, यह सोचते रहेंगे। संभवतः देश के स्वाधीन होते ही, अब देश के मार्ग क्रमण की दिशा क्या हो इसका विचार हमारे सम्मुख आना चाहिए था, किन्तु आश्चर्य की बात यह है कि इस प्रश्न का गम्भीरता से उतना विचार नहीं हुआ जितना कि होना चाहिए था। आज देश स्वाधीन हुए 16-17 वर्ष बीत गये हैं और अब भी देश के भविष्य की दिशा निश्चित् हो गयी है, ऐसा दृढ़ता से नहीं कहा जा सकता।"

"अंग्रेजों के चले जाने के बाद देश की राजनीति, समाज-व्यवस्था, जीवनादर्श आदि पर विदेशी शासकों के विचारों का जो प्रभाव था, वास्तव में दूर हो जाना चाहिए था, किन्तु दूर होने की बजाय वह उत्तरोत्तर अधिकाधिक बढ़ता गया। उनकी वेशभूषा, रीति-रिवाज, भाषा आदि बातें हमारे देश में घुस गयीं। समाजशास्त्र, नीति-शास्त्र, राज्य-व्यवस्था आदि विषयों में भी उन्हीं की बातें हमारे यहाँ भी प्रमाण मानी जाने लगीं। वेद, उपनिषद्, स्मृति, गीता और रामायण के स्थान मर मिल्स, हेगल, एडम स्मिथ, मार्क्स, एन्जेल्स के वचन यहाँ प्रमाण माने जाने लगे।"

"वस्तुतः प्रत्येक राष्ट्र के लिए अपने 'स्व' का विचार करना आवश्यक होता है। स्वत्व के बिना स्वराज्य का कोई अर्थ नहीं होता। आखिर प्रत्येक राष्ट्र अपनी प्रकृति के अनुसार प्रयास करते हुए सुखी और सम्पन्न जीवन व्यतीत कर सकने के लिए ही स्वतंत्रता की

अभिलाषा रखता है। अपनी प्रकृति के साथ मेल न खाने वाली विचारधारा या कार्य-प्रणाली का आधार लेने वाले राष्ट्र पर अनेक विपदाएँ आती हैं। हमारे देश के सामने आज जो संकट है उनका भी यही मुख्य कारण है।"

दीनदयाल जी के मन में अपने राष्ट्र-जीवन के बारे में किस प्रकार का विचार-मन्थन चालू था इन उद्धरणों से स्पष्ट हो जाता है। जैसाकि प्रारम्भ में कहा है, राजनीतिक क्षेत्र में जो दायित्व उन्होंने स्वीकार किया था उसे वे राष्ट्र-निर्माण के कार्य का ही एक अंग मानते थे। उसी निष्ठा के बल पर राष्ट्र-नीति, उसके लिए आवश्यक राजनीति, अर्थनीति आदि सब प्रश्नों के बारे में उन्होंने सभी पहलुओं से मूलगामी चिंतन किया था और यह बिल्कुल स्वाभाविक भी था। किन्तु इस दर्शन की विशेषता यह है कि वह केवल राष्ट्र-चिंतन तक ही सीमित नहीं है, बल्कि उससे भी परे जाता है। उसके आयाम कुछ ध्यान में आयें, इसके लिए उसी भाषण का एक और परिच्छेद उल्लेखनीय है। अपने भाषण का समारोप करते समय पंडित दीनदयाल जी ने कहा था:-

"इसके साथ ही हमें यह भी सोचना होगा कि किंकर्तव्यविमूढ़ अवस्था में फँसे आज के विश्व को प्रगति-पथ पर अग्रसर करने के लिए क्या हम कुछ कर सकते हैं? हमें चाहिए कि आज की दुनिया पर बोझ बनकर न रहते हुए, केवल अपने स्वार्थ का ही विचार न करते हुए, अपनी संस्कृति और परंपरा में दुनिया को देने योग्य क्या-क्या बातें हैं, इसका चिन्तन कर जागतिक प्रगति के कार्य में सहयोग दें। विगत हजार वर्षों से हमारा सारा ध्यान स्वाधीनता-संग्राम में और आत्म-रक्षा के कार्यों में लगा रहा, अतः दुनिया के अन्य राष्ट्रों की तुलना में हम बराबरी में खड़े नहीं हो सके। परन्तु अब हम स्वाधीन हो गये हैं। अब हमें इस कमी को पूरा करना चाहिए।" एकात्म मानव दर्शन का आयाम कितना विशाल है, इससे ध्यान में आ सकता है।

वैसे देखा जाय तो व्यक्ति, समाज, मानव का सुख, उत्कर्ष और कल्याण का विचार नया नहीं है। किन्तु आधुनिक समय में पाश्चात्य तथा अपने देश में भी जो चिंतन हुआ, जो विचारधाराएँ सामने आयीं, जो

प्रयोग किये गये या आज भी उस दिशा में जो प्रयत्न चल रहे हैं, उनसे यह लक्ष्य अपेक्षा के अनुसार प्राप्त होने के लक्षण दिखाई नहीं देते। यद्यपि इनके माध्यम से अपने-अपने समय के कतिपय तात्कालिक प्रश्नों का कुछ मात्रा में समाधान हो जाने का आभास-निर्माण हुआ है, मूल प्रश्नों का स्थायी निराकरण नहीं हुआ। इसके विपरीत सर्वत्र यही दिखाई देता है कि कितनी ही जटिल और अधिक उलझी हुई नयी समस्याएँ खड़ी हो गयी हैं। वैज्ञानिक प्रगति के कारण मनुष्य आज चन्द्रमा पर जा पहुँचा है, फिर भी इस धरातल पर रहने वाला अधिकांश मानव-समूह अभावग्रस्त, अशान्त, भयभीत और भौंचक्का ही रहा है। इस परिस्थिति में पंडित दीनदयाल जी का मूलगामी चिन्तन क्या था, इसका सिंहावलोकन निश्चित रूप में मार्गदर्शक सिद्ध हो सकेगा।

एकात्म दर्शन का सूत्र

एकात्म मानव दर्शन का अर्थ है मानव-जीवन तथा सम्पूर्ण प्रकृति के एकात्म संबंधों का दर्शन। यद्यपि यह सच है कि मानव-जीवन के विविध अंगोपांगो तथा मानव-प्रकृति की विभिन्न शक्तियों में विविधता होती है, किन्तु यह विविधता आन्तरिक एकता के ही विभिन्न रूपों की अभिव्यक्ति हुआ करती है। इसीलिए इन सब में पारस्परिक अनुकूलता और पूरकता होती है।

एकात्म मानव दर्शन व्यक्ति-जीवन का भी उसके सभी अंगों को ध्यान में रखते हुए संकलित विचार करता है। मनुष्य प्राणी शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा का संकलित रूप है। इसीलिए मानव का सर्वांगीण विचार उसके शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा, सबका संकलित विचार है। व्यक्तित्व के इन चारों पक्षों की समुचित आवश्यकताओं को पूरा करने, उनकी विविध माँगों और इच्छा-आकाँक्षाओं को पूर्ण करने तथा उनका सर्वांगीण विकास करने के लिए भारतीय संस्कृति ने व्यक्ति के सामने कर्त्तव्य के रूप में चार पुरुषार्थों का आदर्श रखा है। यहाँ व्यक्ति के सर्वांगीण विकास में उसकी भौतिक प्रगति के साथ-साथ नैतिक एवं आध्यात्मिक उन्नति भी अभिप्रेत है जिससे समाज की सुयोग्य धारणा हो सके।

मनुष्य के चार पुरुषार्थ हैं - धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इन चारों के प्रति मानव को न्यूनाधिक आकर्षण होता है। इसीलिए इन पुरुषार्थों की उपासना से उसे सुख भी प्राप्त होता है। किन्तु इनमें से किसी एक ही पुरुषार्थ को मानव-कर्तव्य की प्रेरणा का मूल या मानव-जीवन की सफलता का मापदण्ड मानना गलत होगा। भारतीय संस्कृति ने इन चारों का एकत्रित विचार किया है। इनमें धर्म आधारभूत पुरुषार्थ है। अर्थ और काम पुरुषार्थों की साधना धर्म के आधार पर करने से उनकी प्राप्ति सुखदायक होती है और वे व्यक्ति के विकास में सहायक होकर अंतिम पुरुषार्थ मोक्ष का, अर्थात् जीवन की लक्ष्य-प्राप्ति का, मार्ग प्रशस्त करते हैं।

तथापि शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा का समुच्चय बना व्यक्ति केवल 'मैं' तक सीमित नहीं है। वह 'हम' से भी संलग्न है। इसलिए व्यक्ति के साथ समष्टि का भी विचार आवश्यक हो जाता है।

यद्यपि समाज अनेक व्यक्तियों से बनता है, फिर भी समाज का अपना एक स्वतंत्र व्यक्तित्व भी होता है। समाज के भी शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा होते हैं और उसे भी धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष पुरुषार्थों की साधना करनी पड़ती है। अर्थात्, क्योंकि व्यक्ति और समाज एकात्मता के बन्धन से आपस में जुड़े होते हैं, व्यक्ति और समाज की पुरुषार्थ-साधना एक दूसरे से बेमेल या विरोधी न होकर परस्पर पूरक और पोषक होती है।

व्यक्ति और समष्टि की पुरुषार्थ-साधना के लिए अनेक संस्थाओं का निर्माण हुआ है। व्यक्ति इनमें से अनेक संस्थाओं का अंग होता है। इसीलिए कहा गया है कि व्यक्ति का व्यक्तित्व एकांगी न होकर विविधांगी होता है। इन विविध संबंधों में एकता और एकात्मता का ध्यान रखकर व्यक्ति विचार और व्यवहार करता है तो उसका समन्वित विकास होकर वह सुखी होता है और साथ ही समाज भी सुखी होता है।

हमारे समग्र चिन्तन का और व्यवस्थाओं का केन्द्र होना चाहिए इन चारों पुरुषार्थों में निहित एकात्म मानव। जिस व्यवस्था में व्यक्ति का

विचार पुरुषार्थी मानव के बजाय किसी विशालकाय यंत्र के पुर्जे के रूप में किया जाता है, या समष्टि की ओर दुर्लक्ष्य करने वाले आत्म-केन्द्रित मानव के रूप में किया जाता है, वह व्यवस्था अधूरी है। उसी प्रकार जिस व्यवस्था में मानव का विचार शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा की भूख को ध्यान में रखकर करने के बजाय इनमें से कुछ ही अंगों के लिए किया जाता है, वह व्यवस्था भी अधूरी है। व्यक्ति-जीवन का सर्वांगीण तथा चारों पुरुषार्थों के अनुसार विचार करने वाला, उसके लिए प्रयत्नशील रहने वाला और साथ ही व्यक्ति से लेकर विश्व-मानव तक परिवार, राष्ट्र आदि विविध एकात्म समूहों और उन से भी परे जाकर परमेष्ठी से तादात्म्य स्थापित करने की क्षमता रखने वाला एकात्म मानव ही इस दर्शन का आदर्श है। मानव का इस प्रकार समग्र एवं समन्वित विचार करते हुए-जीवन के सभी अंगों का और व्यवस्थाओं का विचार कर-संरचना की जाय तो सम्भवतः राष्ट्रीयता, मानवता, विश्व-शान्ति आदि श्रेष्ठ आदर्शों की दिशा में अन्तर्विरोध दूर होकर वे एक दूसरे के पूरक बनेंगे और मानव का उद्देश्यपूर्ण सुखी जीवन प्राप्त होकर एकात्म मानव दर्शन साकार होगा।



2

पाश्चात्य विचारधारा

पिछले अध्याय में हमने देखा कि अंग्रेजों के डेढ़ सौ वर्ष की सत्ता के कारण पाश्चात्य वेशभूषा एवं रीति-रिवाज के साथ ही अर्थशास्त्र, राज्यशास्त्र, समाजशास्त्र आदि क्षेत्रों में भी उनकी विचारधारा एवं जीवन-पद्धति का अपने देश पर कैसे प्रभाव पड़ा था। एकात्म दर्शन का विवेचन प्रारम्भ करने से पूर्व, उनमें से कुछ प्रमुख विचारधाराओं की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि एवं स्वरूप की पहचान कर लेना इस दर्शन का निरालापन और विशेषताएँ समझने के लिए उपयुक्त होगा।

यूरोप महाद्वीप का आधुनिक इतिहास नवजागरण-पर्व ('रेनेसाँ') अर्थात् 15वीं शती के उत्तरार्द्ध से प्रारम्भ होता है। तब से आज तक के कालखंड में राष्ट्रवाद, जनतंत्र और समाजवाद की तीन प्रमुख विचारधाराओं का यूरोपीय समाज-जीवन पर विशेष प्रभाव दिखाई देता है। इनमें राष्ट्रवाद सबसे प्राचीन और आज भी प्रभावशाली है।

पश्चिम में राष्ट्रवाद का उदय

यूरोप में राष्ट्रवाद का उदय 'होली रोमन एम्पायर' के पतन और पोप की धार्मिक अधिसत्ता के विरुद्ध हुए विद्रोह की पृष्ठभूमि पर हुआ है। ईसाई धर्म का प्रमुख होने के नाते रोम के पोप की अधिसत्ता यूरोप में सभी राज्यों पर थी। 'पाखंडी' लोगों को दंड देने का अधिकार उस

'धर्म-पीठ' को और उसके प्रतिनिधियों को प्राप्त था। साधारण कारावास से लेकर मृत्यु-दंड तक नाना प्रकार के दंड वे दे सकते थे। पाखंडी कौन है, यह निश्चित करने का अधिकार भी धर्मगुरुओं को ही था। उस काल में कितने ही लोगों को अमानवीय यंत्रणाएँ दी जाने और अनेकों को जान से मार दिये जाने के उदाहरण इतिहास में मिलते हैं।

रोम के पोप की इस पुरोहितशाही के विरुद्ध अनेक धर्म-सुधारकों ने विद्रोह किया। मार्टिन लूथर और कालविन के नाम इस संदर्भ में विशेष उल्लेखनीय हैं। इन विद्रोहियों को "प्रोटेस्टेंट" (विरोध या निंदा करने वाले) सम्बोधन प्राप्त हुआ था। इसी से आगे चलकर प्रोटेस्टेंट और उससे भी आगे चलकर राष्ट्रीय चर्च (नेशनल चर्च) का उदय हुआ। भगवान के दरबार में कैथोलिक धर्मगुरुओं की दलाली और एकाधिकार इन प्रोटेंस्टेंट लोगों को मान्य नहीं था।

पोप की अधिसत्ता का यह जो विरोध हुआ, वह केवल धार्मिक क्षेत्र तक ही सीमित नहीं था। रोम के पोप का अध्यादेश (हुक्मनामा) था कि राज्यों को सत्ता की अधिमान्यता पोप की सम्मति और आशीर्वाद पर ही निर्भर होगी। फलस्वरूप यूरोप के राजा-महाराजा पोप के प्रति असंतुष्ट थे। समुद्र के पार स्थित विश्व की खोज हो जाने के कारण व्यापारी पूँजीपतियों का जो नया वर्ग उदित हुआ था, वह भी पोप के बंधन तोड़ देने के लिए उत्सुक था। ठीक इसी काल में विज्ञान के नये-नये आविष्कार सामने आ रहे थे, जिनके फलस्वरूप पोप के हुक्मनामों पर आज तक चली आ रही श्रद्धा भंग होती जा रही थी। इस प्रकार राजा-महाराजा, नवोदित व्यापारी पूँजीपति, और पोप के प्रति अंधश्रद्धा को समाप्त कर नयी संकल्पनाओं को प्रोत्साहित करने के लिए उत्सुक अभिजतात वर्ग (एलीट) आदि विविध क्षेत्रों के लोग पोप के विरोध में संगठित होने लगे थे। संक्षेप में कहा जा सकता है कि केवल धार्मिक विषयों में ही नहीं, अपितु राज्यान्तर्गत किसी भी विषय में देशबाहय शक्तियों को हस्तक्षेप करने नहीं देंगे, यह भावना बल पकड़ती जा रही थी। यह है यूरोप में राष्ट्रवाद के उदय की पृष्ठभूमि। इस पृष्ठभूमि के कारण राष्ट्र और राज्य की कल्पनाएँ धीरे-धीरे एकरूप

होती चली गयीं और यूरोप में छोटे-बड़े राष्ट्र-राज्य (नेशन स्टेट्स) उदित हुए। विगत कुछ सदियों का यूरोप का इतिहास ऐसे राष्ट्रों के उदय और उनके आपसी संघर्ष का इतिहास रहा है। राष्ट्र की प्रभुसत्ता और भौतिक समृद्धि के लिए विस्तारवादी साहस करने की प्रेरणा से यह इतिहास ओतप्रोत रहा है।

राष्ट्रवाद के समान ही यूरोप के इतिहास पर जिस महत्त्वपूर्ण विचार का प्रभाव रहा, वह है जनतंत्र का विचार। जैसा कि ऊपर कहा गया है, राष्ट्रवाद के उदय के कारण पोप की अधिसत्ता समाप्त हो गयी, किन्तु धीरे-धीरे राजा की अधिसत्ता का प्रारम्भ हुआ। राजा लोग मानने लगे कि हम ईश्वर के अंश हैं, प्रजा के भाग्य विधाता हैं और न्याय-देवता के आदिपीठ भी हम ही हैं। उनके व्यवहार में यह भावना धीरे-धीरे बलवती होती चली गयी। इससे पहले राजाओं के हाथ में केवल प्रजा-शासन की सत्ता हुआ करती थी, धर्म-सत्ता पोप के पास अर्थात् धर्मपीठ में निहित थीं। अब राज्यसत्ता और धर्मसत्ता दोनों एक ही व्यक्ति के हाथ में केन्द्रित हो गयीं। व्यापारी पूँजीपतियों को नित नये व्यापारिक साहस करने के लिए अनुमति और आर्थिक सहायता हेतु राज्यसत्ता की अनुकूलता आवश्यक हो गयी और इसीलिए अर्थसत्ता की नाड़ी भी राजाओं के ही हाथ में चली गयी। इन सब का परिणाम यह हुआ कि राज्यसत्ता अधिकाधिक उद्दण्ड, निरंकुश तथा मनमानी करने वाली हो गयी।

राज्यसत्ता की इस निरंकुशता के विरुद्ध संभवतः जनता में असंतोष फैलने लगा। विधि (कानून) के विषय में राजा को, केवल वह राजा है इसलिए, कोई विशेष अधिकार (प्रेरोगेटिव) नहीं हैं, न होने चाहिए; विधान के सम्मुख सभी व्यक्ति समान है; इसी प्रकार राजा को समाज पर मनमाने बंधन डालने का कोई अधिकार नहीं है; व्यक्ति को पूरी स्वतंत्रता मिलनी ही चाहिए और प्रभुसत्ता राजा में नहीं, जनता में है; ये विचार बल पकड़ने लगे। अतः राजघराने या तो नष्ट कर दिये गये या उनके अधिकारों पर वैधानिक शासन के समर्थकों द्वारा सीमाएँ डाल दी गयीं। इंग्लैंड में हुई रक्तहीन क्रांति, अमरीकी क्रांति और फ्रांसीसी

राज्य-क्रांति का घटनाक्रम देखने से पता चलता है कि व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का या जनतंत्र का प्रभाव कैसे बढ़ता गया। इसी व्यक्ति-स्वातंत्र्य और समाज की प्रतिष्ठा को व्यक्त करने के लिए आगे चलकर संसद् और तत्सम संस्थाओं का निर्माण हुआ।

यह तो ठीक है कि जनतंत्र में नागरिकों को व्यक्ति-स्वातंत्र्य दिया गया, किन्तु उसी समय यंत्रयुग का जो उदय हुआ उसके कारण समाज-जीवन में एक नयी समस्या खड़ी हो गयी। उत्पादन के नये यंत्र-तंत्रों के कारण पूर्व की अपेक्षा काफी कम मानव परिश्रम से प्रचण्ड मात्रा में उत्पादन करना सुलभ होने लगा। जनतंत्र द्वारा दिये गये व्यक्ति-स्वातंत्र्य का और समान अवसर का लाभ उठाकर, जो लोग अपेक्षाकृत बुद्धिमान और धन-सम्पन्न थे, उन्होंने उत्पादन के साधनों पर अपना आधिपत्य जमाया। व्यापारी पूँजीवाद का रूपांतर औद्योगिक पूँजीवाद में हो गया। धीरे-धीरे इस धनसत्ता के बल पर शासन तंत्र को भी उन्होंने अपनी मुट्ठी में कर लिया। संक्षेप में, जनतंत्र द्वारा दिये गये व्यक्ति-स्वातंत्र्य का प्रत्यक्ष व्यावहारिक अर्थ हो गया सर्वसामान्य जनता के आर्थिक शोषण के लिए और उसे अपना दास बनाने के लिए, मुट्ठीभर लोगों को प्राप्त स्वातंत्र्य।

यंत्रयुग के उदय के कारण एक ओर मुट्ठीभर धनसम्पन्न लोग अधिकाधिक धनवान हो रहे थे तो दूसरी ओर गाँवों में फैला हुआ छोटे कारीगरों और श्रमिकों का वर्ग क्रमशः दाने-दाने के लिए मोहताज होकर गाँव छोड़कर जा रहा था। खेती और घर के कामों में उपयोगी छोटे-छोटे औजार भी जब नगरों में तैयार होकर गाँवों में पहुँचने लगे, तब पाश्चात्य देशों के ग्रामीण कारीगरों की दशा वैसी ही हो गयी जैसी आज हमारे यहाँ देहातों में रहने वाले बढ़ई, राजमिस्त्रियों और लुहारों की, अथवा बाटा कम्पनी के भाँति-भाँति के डिजाइनों वाले आकर्षक जूते-चप्पल देहातों में भी उपलब्ध होने के कारण वहाँ के चर्मकारों की हुई दुर्दशा हम देखते हैं। परिणामतः आज तक अपने घर में बैठकर स्वतंत्र रूप से कुछ काम-धंधा करने वाला कारीगर अब नगर में आकर वहाँ के कारखानों में नौकर बन गया। वहाँ उसकी रहने की सुविधा बहुत ही

घटिया हुआ करती है। बम्बई, कलकत्ता, अहमदाबाद जैसे औद्योगिक नगरों में अनाप शनाप झुग्गी-बस्तियों को देखकर इसकी कुछ कल्पना की जा सकती है। कारखाने में काम के बारे में कोई नियम नहीं थे। रोटी के टुकड़े के लिए दिनभर पसीना बहाने वाला श्रमिक शरीर से थका हुआ, मन से टूटा हुआ और असंगठित था। और तो और, उसका शोषण करने वाला जो पूँजीपति वर्ग था उसी के हाथ में शासन की नकेल भी होती थी। फलस्वरूप राज्यकर्ताओं से न्याय पाने की श्रमिकों को कोई आशा नहीं थी।

समाजवाद

इस प्रकार जनतंत्र द्वारा दिये गये व्यक्ति-स्वातंत्र्य और यंत्रयुग के उदय के कारण उत्पन्न हुई अन्याय पूर्ण परिस्थितियों में परिवर्तन कराने के लिये कुछ लोग निश्चयपूर्वक अग्रसर हुए। वे अपने आपको समाजवादी कहने लगे। इन समाजवादियों के मुख्यत: दो गुट थे। एक नरमपंथी या संवैधानिक समाजवादियों का और दूसरा उग्रपंथी समाजवादियों का। सेंट साइमन, चार्ल्स फोरयर, रॉबर्ट ओवेन, लुई ब्लैंक नरमपंथी समाजवादियों के नेता थे। इनको नरमपंथी इसलिये कहा गया कि समाज-परिवर्तन के लिए वर्गयुद्ध को इन्होंने अपरिहार्य नहीं माना था। उनकी भूमिका यह थी कि राज्यसंस्था को शोषित एवं पीड़ित नागरिकों के प्रति सच्ची सहानुभूति रखनी चाहिए। शासकों को इस विषय में उदासीन न रहकर श्रमिकों के हित में विधान बनाने चाहिए। इसी से समाज-परिवर्तन संभव है। उग्रपंथी समाजवाद के प्रवक्ता कार्ल मार्क्स को यह भूमिका कतई स्वीकार नहीं थी। उसका दावा था - "मेरे पूर्ववर्ती सभी समाजवादी विचारकों का चिन्तन स्वप्निल था, मैं वैज्ञानिक समाजवाद का प्रचार कर रहा हूँ।" मार्क्स ने अपना यह निष्कर्ष, अर्थव्यवस्था और इतिहास का प्रदीर्घ और प्रगाढ़ अध्ययन कर सिद्धांत रूप में सामने रखा। मार्क्स के इस विश्लेषणात्मक प्रयत्न के कारण समाजवाद को एक सैद्धांतिक अधिष्ठान प्राप्त हुआ। एक सर्वथा निराले दृष्टिकोण से समाज-जीवन के इतिहास का मार्क्स ने जो प्रभावी विश्लेषण किया, वह उस काल में अभाव और विफलताग्रस्त शोषित

वर्ग के मन में आत्मविश्वास का अंगार सुलगाने वाला सिद्ध हुआ। क्रांति का शास्त्र, अर्थशास्त्र एवं इस क्रांति के मार्ग पर चलकर अन्ततोगत्वा वर्ग विहीन समाज-जीवन का निर्माण करने का उसके द्वारा रचा गया स्वप्न केवल शोषित वर्ग के लिये ही नहीं, अपितु इस वर्ग की दुर्दशा से द्रवित और अशान्त बने अनेक बुद्धिमानों के लिये भी जादू का काम कर गया। वे सब लोग मार्क्स के चिन्तन से प्रभावित हो गये

मार्क्स की भूमिका

मार्क्स द्वारा प्रतिपादित इस वैज्ञानिक समाजवाद का मुख्य सूत्र यह था कि मानव इतिहास, विरोध विकासवाद का ही इतिहास है। उत्पादन के शक्ति-स्रोतों और उत्पादन के संबंधों की नींव पर यह इतिहास साकार होता है। उत्पादन के साधनों पर निजी स्वामित्व ही श्रमिकों के शोषण का मुख्य कारण है, चाहे वे साधन खेती की भूमि के रूप में हों, यंत्रसामग्री के रूप में हों या अन्य किसी रूप में। मुट्ठी भर लोगों के हाथ में केन्द्रित उत्पादन के ये साधन उनके हाथों से छीनकर समाज को सौंप देने से शोषण की यह प्रक्रिया अपने आप समाप्त हो जायेगी। मार्क्स के सिद्धांत के अनुसार उत्पादन के साधन समाज के अधिकार में देने का अर्थ था समाजहितैषी शासन के हाथों में उनको सौंपना। इसलिये पहले शासन को शोषक वर्ग के चुंगल से मुक्त करना नितांत आवश्यक है और यह भी उतना ही आवश्यक है कि ये साधन फिर कभी इन लोगों के हाथों में न जायें इसके लिये श्रमिकों की तानाशाही (डिक्टेटरशिप) स्थापित करनी होगी। इस तानाशाही को समाज चुपचाप सह ले, इस हेतु समाज के सामने एक आदर्श व्यवस्था का चित्र रखा गया कि शोषक वर्ग के समाप्त हो जाने के बाद और उसके द्वारा प्रतिक्रांति की किंचित् भी संभावना न रहने पर राज्यसंस्था की आवश्यकता ही नहीं रहेगी। इसमें से एक राज्यविहीन तथा वर्गविहीन आदर्श समाज का निर्माण होगा।

आगे चलकर रूस में मार्क्सवादी क्रांति हो गयी। किन्तु शीघ्र ही ध्यान में आया कि उसके बाद स्थापित तानाशाही समूचे शोषित समाज की न होकर एक दल मात्र की है, और वह भी पुनःदल के मुट्ठी भर

पदाधिकारियों की है। तथापि इस आशा से कि यह अवस्था केवल संक्रमणकाल तक ही रहेगी और प्रतिक्रांति की कोई भी संभावना शेष न रह जाने पर यह अवस्था बदलकर शोषित वर्ग की सच्ची अधिसत्ता में परिणत हो जायेगी, जनता ने इस निरंकुश तानाशाही का अत्याचार कुछ समय तक सह भी लिया। किन्तु शीघ्र ही उन्होंने समझ लिया कि एक व्यक्ति की या मुट्ठी भर लोगों की यह तानाशाही अब सदा के लिये उनके सिर पर सवार हो गयी है। प्रतिक्रांति की सभी संभावनाओं को समाप्त करने के नाम पर शासन अधिकाधिक निरंकुश होता जा रहा है। यह नारा कि वर्गविहीन समाज के निर्माण के बाद शासन-प्रणाली स्वयं ही समाप्त हो जायेगी, एक कोरा सपना रह गया। साम्यवादियों द्वारा धर्म के संदर्भ में प्रयुक्त परिभाषा का ही उपयोग कर कहा जाये तो, शासनरहित वर्गविहीन समाज की कल्पना साम्यवाद द्वारा समाज को दी गयी एक अफीम की गोली ही सिद्ध हुई।

मार्क्सवाद की प्रतिक्रिया

रूस में हुई कम्युनिस्ट क्रांति का जनतंत्र की जड़ पर कुठाराघात करने वाला यह रूप देखकर समाजवादी विचारक चिन्ता में पड़ गये। पूँजीवादी व्यवस्था के कारण सामान्य श्रमिक जनता अमानुष गरीबी के गर्त में पड़ी हुई थी। उस विपन्न अवस्था से उसे बाहर निकालना उनका अपना भी लक्ष्य था। किन्तु जनतंत्र द्वारा प्राप्त अधिकार, राजनीतिक समानता और स्वातंत्र्य भी उनकी दृष्टि से उतने ही मूल्यवान थे। समाजवादी क्रांति से यह आशा की जा रही थी कि पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था के कारण आर्थिक दृष्टि से अभावग्रस्त हुए लोगों को वह कुछ देगी, न कि उनके पास पहले से रहे अधिकार और स्वातंत्र्य को छीन लेगी। किंतु कुछ देने के बजाय शोषण-रहित, राज्य-विहीन, समाज-रचना लाने का लालच उनके सामने रखकर प्रत्यक्ष में इस क्रांति ने उनके हाथ में रहे राजनीतिक स्वातंत्र्य को भी छीन लिया। इस विचार-मन्थन से ही वह विचार सामने आया, जो आजकल लोकतंत्रीय समाजवाद के नाम से जाना जाता है। उत्पादन तथा वितरण के सभी साधनों पर शासन का ही स्वामित्व होना चाहिए, यह बात तो लोकतंत्रीय समाजवादियों को भी

अभिप्रेत है ही। कम्युनिस्टों के साथ उनका मतभेद मुख्यत: यही है कि समाजवाद को जनतंत्र के मार्ग में आना चाहिए। (इस संदर्भ में चार्ल्स पोरियर, लुई ब्लैंक, या राबर्ट ओवेन के स्वप्निल समाजवाद की अपेक्षा 19वीं सदी के अंत में सामने आये फेबियन समाजवाद के साथ लोकतंत्रीय समाजवाद की आकृति बहुत कुछ मिलती है।) एक दृष्टि से कहा जा सकता है कि व्यक्तिसत्तावाद और समाजसत्तावाद में संतुलन बनाये रखने का यह प्रयास है। अब मुख्य प्रश्न यह है कि समाजवाद जनतंत्र के मार्ग से चलकर आ भी जाये, तो क्या समाज वाद और जनतंत्र की गृहस्थी चल सकती है? क्योंकि समाजवाद का आग्रहपूर्वक प्रतिपादन है कि "समाज के राजनीतिक, वैचारिक और सामाजिक जीवन का ढाँचा इस बात पर खड़ा होता है कि उत्पादन-साधनों पर किसका स्वामित्व है। इसीलिए उत्पादन के सभी साधनों और वितरण की व्यवस्था पर शासन का ही अधिकार होना चाहिए।" वस्तुत: शासन का कार्य बाह्य शत्रुओं से देश की रक्षा करना तथा आन्तरिक शांति एवं सुव्यवस्था को बनाये रखना होता है। सुव्यवस्था, सुख-समृद्धि या समाज-परिवर्तन की दुहाई देकर जीवन के सभी क्षेत्रों पर अधिकार स्थापित करना और उन्हें अपने नियंत्रण में लाना शासन का काम नहीं है। किन्तु आज जिस समाजवाद की चर्चा सर्वत्र चल रही है, और जहाँ प्रत्यक्ष समाजवादी सरकार है, वहाँ ठीक यही अवस्था है। लोकतंत्रीय समाजवाद की भी इसी सिद्धांत में निष्ठा है। इस प्रकार शासन का सर्वकंष नियंत्रण रहने पर समाज शासन के विरुद्ध अपने लोकतंत्रीय अधिकारों का उपयोग निर्भयतापूर्वक कैसे कर सकता है? दूसरी भाषा में, समाजवाद और लोकतंत्र की गृहस्थी कैसे निभ सकती है?

लोकतंत्र, पूँजीवाद, समाजवाद आदि विचारधाराओं के इतिहास और उनके एकांगीपन और अधूरेपन का विचार अब तक हमने किया। किन्तु यह विचार पर्याप्त मात्रा में अतीत की क्रिया-प्रतिक्रियाओं से संलग्न है। एकात्म मानव दर्शन प्रस्तुत करते समय इस बात को भी ध्यान में रखना नितांत आवश्यक है कि इन विविध विचारधाराओं की अवस्था आज प्रत्यक्ष में कैसी है?

दृढ़मूल लोकतंत्र के आदर्श की जब भी चर्चा होती है, बहुधा इंग्लैंड और अमेरिका का उदाहरण दिया जाता है। इंग्लैंड में आन्तरकि लोकतंत्र तो है, किन्तु अभी-अभी की बात है कि इस देश का विश्व के पर्याप्त बड़े भाग पर साम्राज्य था। "इंग्लैण्ड के साम्राज्य में सूर्य कभी अस्त नहीं होता," ऐसा बड़े अभिमान के साथ कहता फिर रहा था, अपने आपको जनतंत्रवादी कहने वाला इंग्लैंड। विविध देशों में जो सामूहिक विद्रोह हुए और द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में जो परिवर्तन आया, उसके परिणामस्वरूप इंग्लैंड को अपने साम्राज्य का बोरिया-बिस्तर समेटना पड़ा। फिर भी जहाँ कहीं आज भी उसके उपनिवेशवाद के अवशेष बचे हैं वहाँ अपनी सत्ता को बनाये रखने के लिए वह आज भी प्रयत्नशील है। इतने आन्दोलन और इतना रक्तपात होने के बाद भी अफ्रीकी देशों के साथ व्यवहार करते समय रोम-रोम में काले-गोरे का वर्णभेद, लोकतंत्रवादी कहलाने वाला इंग्लैंड अभी भी छोड़ नहीं पाया है। अमेरिका की स्थिति तो इससे भी विचित्र है। विश्व-शांति को बलाए ताक पर रखने वाले पाकिस्तान जैसे सैनिक शासन वाले देश के आँगन में अत्यंत आधुनिक विध्वसंक शस्त्रों के ढेर लगाने में वह थोड़ा भी नहीं हिचक रहा है। पहले लाल चीन को मात देने के लिये वियतनाम में अरबों डालर के शस्त्र भेजने वाला और लाखों अमरीकी सैनिकों की बलि चढ़ा देने वाला अमेरिका, विश्व-शांति के नाम पर रूस को मात देने के लिये अब चीन के साथ साँठ-गाँठ कर रहा है। यह सूची और भी लम्बी हो सकती है, किन्तु अपने आपको लोकतंत्रवादी कहने वाले इन बड़े देशों की लोकतंत्र में निष्ठा कितनी दिखावटी है, यह स्पष्ट करने के लिये इतने उदाहरण पर्याप्त हैं।

अन्य लोकतंत्रीय देशों का विचार थोड़ी देर के लिये दूर रखकर हम यदि अपने देश पर दृष्टि दौड़ाएँ तो क्या दिखाई देगा? स्वाधीनता के पश्चात् लगभग सभी देशी राज्य शेष भारत में विलीन कर दिये गये। इस प्रकार उन राज्यों में परम्परा से चला आया सामन्ती शासन समाप्त हो गया, किन्तु उसका स्थान घरानाशाही ने ले लिया। यह घरानाशाही (परिवारवाद) औद्योगिक क्षेत्र में तो कई वर्षों पहले से ही विद्यमान है,

अब राजनीतिक क्षेत्र में भी वह प्रतिष्ठा प्राप्त कर रही है।

हमारे देश में जो जनतंत्र है उसे विश्व का सबसे बड़ा जनतंत्र माना जाता है। मतदाताओं की संख्या की कसौटी से हमारा देश विश्व का सबसे बड़ा जनतंत्रवादी देश है, इसमें संदेह नहीं। किन्तु "जनता का जनता के द्वारा, जनता के लिए शासन"-यह जो जनतंत्र का आत्मास्वरूप सिद्धांत है, या विरोधी मत के प्रति सम्मान, संविधान का आदर, न्यायपालिका का आदर आदि जो जनतंत्र की प्रमुख मान्यताएँ हैं, उनकी कसौटी पर हमारे यहाँ के जनतंत्र को तौला जाये तो निराशा ही हाथ लगती है। अधिकांश राजनीतिक दलों की दृष्टि में जनतंत्र का अर्थ मतपेटी माध्यम से शासन-सत्ता हस्तगत करना ही है। परिणामतः सभी सूक्तासूक्त मार्ग अपनाकर प्रतिस्पर्धी को पराभूत करते हुए सत्ता में आना, और इस प्रकार प्राप्त सत्ता से भाँति-भाँति की जुगत लड़ाकर चिपके रहना ही उनका लक्ष्य होता है। पूँजीवाद में जिस प्रकार आर्थिक सत्ता के लिए स्पर्धा, संघर्ष, समर्थ का ही जीवनाधिकार (सर्वायवल ऑफ द फिटेस्ट) आदि बातों को केवल क्षम्य ही नहीं, स्वाभाविक भी माना जाता है, उसी प्रकार की स्थिति राजनीतिक दलों में भी हो गयी है। वास्तव में सामंतवाद की निरंकुश सत्ता से प्रजा को मुक्त करने के लिये लोकतंत्र का उदय हुआ था, किन्तु आज हम देखते हैं कि लोकतंत्र सत्तारूढ़ बहुमत वाले और कई बार अल्पमत वाले शासकों का एकाधिकार-तंत्र तथा उस दल द्वारा पाले गये भाई-भतीजों की गुंडाशाही बन बैठा है।

कम्युनिज्म की घोर असफलता

लोकतंत्र के बाद एक दर्शन के नाते कम्युनिज्म का विचार करें तो क्या दिखाई देता है? कम्युनिज्म के इतने प्रकार निर्मित हो चुके हैं कि उसके अनुयायियों में इस बात को लेकर घनघोर 'तू-तू, मैं-मैं' मची है कि यथार्थ कम्युनिज्म कौन सा और मिथ्या कौन सा है।

'कम्युनिज्म अपनी ही कसौटी पर' विषय पर अपने भाषण में श्री दत्तोपन्त ठेंगड़ी ने कम्युनिस्ट दर्शन की इस अवस्था का बड़ा ही सटीक किन्तु सुस्पष्ट शब्दों में वर्णन किया है। वास्तव में अब

कम्युनिज्म शब्द का अचूक अर्थ क्या है, इस पर गंभीरता से विचार करने की नौबत कम्युनिस्टों में ही आ गयी है। आज कोई भी कम्युनिस्ट दूसरे कम्युनिस्ट को सच्चा कम्युनिस्ट मानने को तैयार नहीं। रूस की दृष्टि में चीन पथभ्रष्ट (डैवीएशनिस्ट) है तो चीन के विचार से रूस पथभ्रष्ट है। युगोस्लाविया रूस और चीन दोनों की दृष्टि से पथभ्रष्ट है। यूगोस्लाविया उल्टे रूस और चीन दोनों को पथभ्रष्ट कहता है, हमारे यहाँ डांगे नम्बूद्रीपाद को पथभ्रष्ट मानते हैं। नम्बूद्रीपाद की दृष्टि में डांगे पथभ्रष्ट हैं, किन्तु डांगे और नंबूद्रीपाद दोनों इस बात पर सहमत हैं कि चारु मजूमदार पथभ्रष्ट हैं। इन सब कम्युनिस्टों ने एक-दूसरे को ये जो प्रमाणपत्र प्रदान किये हैं उन सबको एकत्रित कर यदि निष्कर्ष निकाला जाये तो यही निकलेगा कि संसार के सबके सब कम्युनिस्ट पथभ्रष्ट हो चुके हैं (World Communism is equal to World Daviationism)। यूरोप में पिछले दो दशकों में उदित यूरोकम्युनिज्म और अत्याधुनिक 'द न्यू लेफ्ट' ने जागतिक साम्यवाद की जड़ पर कुठाराघात किया है। यह तो रहा दर्शन के नाते साम्यवाद की अवस्था का विश्लेषण। उसके बाद कम्युनिस्ट देशों के प्रत्यक्ष आचरण के बारे में भी कुछ विचार करना उचित होगा। लोकतंत्र कहते ही जिस प्रकार इंग्लैंड और अमेरिका का नाम सामने आ जाता है, उसी प्रकार कम्युनिज्म कहते ही रूस और चीन, ये दो नाम प्रमुखता से सामने आते हैं। इन देशों का आंतरिक समाज-जीवन कैसा है, बाहर की दुनिया को पता चलना बड़ा कठिन होता है, किन्तु 'डार्कनेस एट नून', 'गॉड दैट फेल्ड', या 'द न्यू क्लास', 'द अनपरफैक्ट सोसायटी', 'द एण्ट हिल' जैसे मान्यता-प्राप्त ग्रंथों में वहाँ के समाज-जीवन का जो चित्र प्रस्तुत किया गया है वह निश्चय ही मार्क्स के सपनों के समाज का चित्र नहीं है। चीन के बारे में भी यही कहना पड़ेगा। यह ठीक है कि बीच-बीच में सांस्कृतिक क्रांति के समाचार उस देश से मिलते रहते हैं, किंतु उस सांस्कृतिक क्रांति का अर्थ सामूहिक नरसंहार होता है। 'शतपुष्प खिलाने' का नारा भी चीन से ही उठा, किंतु प्रत्यक्ष आचरण में निन्यानबे कलियों को मसलकर केवल एक ही पुष्प को खिलाने का अवसर उस नारे में

दिखाई दिया है।

कम्युनिस्ट देशों में जो समाज-जीवन है, उसकी चर्चा करने के बाद अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों के क्षेत्र में इन देशों का व्यवहार कैसा है यह भी देखने योग्य है। यद्यपि रूस और चीन के बीच साम्यवाद के वास्तविक रूप और उसकी प्रगति के प्रश्न को लेकर सैद्धांतिक मतभेद है, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में मार्गक्रमण की दोनों की दिशा एक ही प्रकार की है। एक ही वाक्य में कहना हो तो, कहा जा सकता है कि दोनों कट्टर साम्राज्यवादी हैं। पंचशील का नारा लगाते हुए चीन पूरे तिब्बत को और भारत के पर्याप्त बड़े भू-भाग को हड़प कर बैठा है, तो रूस के टैंक पोलैंड तथा हंगरी में अपना करतब दिखाकर अब अफगानिस्तान में मोर्चाबंदी कर रहे हैं।

यंत्रसभ्यता का भस्मासुर

जनतंत्रवाद, पूँजीवाद, समाजवाद, साम्यवाद आदि विचारधाराओं की प्रत्यक्ष व्यवहार में क्या अवस्था है, यह इस चिन्तन से स्पष्ट हो जायेगा। एकात्म मानव दर्शन को प्रस्तुत करते समय इन सभी विचारप्रवाहों के साथ ही मानव जीवन पर अपना विलक्षण प्रभाव डालने वाले एक और प्रवाह का विचार करना भी आवश्यक है। वह प्रवाह है विगत दो सदियों में विकसित यंत्रसभ्यता या औद्योगिक सभ्यता का। इस सभ्यता ने मानव के सामने कुछ चुनौतियाँ उपस्थित की हैं। यूरोप, अमेरिका, एशिया, सबके सामने कुछ प्रश्न रखे हैं। प्राचीन यूरोपीय सभ्यताएँ आक्रांताओं द्वारा नष्ट हो गयीं, किन्तु हिन्दू संस्कृति उन आक्रमणों का प्रतिकार करते हुए भी बनी रही, यह इतिहास निःसंदेह गौरवपूर्ण है। किन्तु इस नयी यंत्रसभ्यता का आक्रमण किसी एक संस्कृति विशेष पर नहीं, अपितु विश्व की सभी संस्कृतियों पर किया गया आक्रमण है। इस सभ्यता ने प्राचीन तथा अर्वाचीन सभी मानव सभ्यताओं का विकास अवरुद्ध कर डाला है। यही नहीं, उसने उनके जीवन-मूल्य, आदर्श, आचार-विचार, धर्म-कल्पनाएँ, व्यक्तिगत, पारिवारिक और सामाजिक जीवन आदि सभी क्षेत्रों में घुसपैठ की है और इन सभी का पूर्ण विध्वंस करने की दिशा में उसकी घुड़दौड़ चल रही है।

दूसरी बात यह है कि यह सभ्यता कोई एक प्रादेशिक संस्कृति नहीं है। जहाँ-जहाँ विज्ञान तौर तंत्र-ज्ञान पहुँचा है, वहाँ-वहाँ यह यंत्रसभ्यता बरसात के बाद अपने आप बढ़ने वाले खरपतवार की भाँति तेजी से बढ़ती जाती है। 18वीं सदी में जेम्स वाट ने भाप के इंजन का आविष्कार किया। उसके बाद औद्योगिक संस्कृति की गतिमयता और आक्रामकता (आक्रमणक्षमता) बढ़ गयी, तो 20 वीं सदी में अणुविज्ञान तथा इलेक्ट्रॉनिक्स की सहायता से इस संस्कृति ने ऊँचे गगन में बहुत ही तेज उड़ान भरी। आज सारा विश्व इस संस्कृति के वश में आया सा लगता है। अन्य सभी संस्कृतियाँ इसकी दासी बन गयीं सी प्रतीत होती हैं। इस नयी सभ्यता का प्रणेता कोई एक ऋषि-मुनि, आचार्य या तत्त्वचिन्तक नहीं है। तब भी सर्वत्र जनसमुदाय उसकी ओर बहुत ही वेग के साथ आकर्षित होता जा रहा है। यहाँ किसी की इच्छा-अनिच्छा का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। भगवद्गीता में विश्व-रूप दर्शन का जो विवरण है, वह इस संदर्भ में विशेष उल्लेखनीय है-

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतंगा, विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः
तथैव नाशाय विशन्ति लोका, स्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगा।।

(भगवद्गीता अध्याय - 11, श्लोक 29)

(जैसे प्रज्जवलित अग्नि में मरने के लिये पतंगे बड़े वेग से कूद पड़ते हैं, उसी प्रकार आपके अनेक मुखों में ये लोग मरने के लिये बड़े वेग से प्रवेश कर रहे हैं।)

आज इस यंत्रसभ्यता ने मानव की अवस्था ऐसी ही कर डाली है। इस यंत्र-सभ्यता ने राजनीति एवं आर्थिक साम्राज्यवाद के विस्तार के लिए बहुत बड़ा अवसर प्रदान किया है। कभी स्थिति ऐसी थी कि जिसके हाथ में तलवार होती थी, उसी का साम्राज्य होता था। आगे चलकर एक काल ऐसा आया कि जिसके हाथ में तराजू, उसी का साम्राज्य। आज की यह यंत्र-सभ्यता तराजू और तलवार दोनों को आयुध बनाकर सारे विश्व को पादाक्रांत करने निकली है।

आज तक देश-देश की जनता जो थोड़ा बहुत सुख और शांति अनुभव करती थी, उसको इस यंत्रसभ्यता के साथ आये औद्योगीकरण

तथा नगरीकरण ने छीन लिया है। इस संस्कृति ने जीवन को गतिमान किया, किन्तु उसके अन्दर जो ममत्व और जीवन्तता थी उसे समाप्त कर दिया। नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों का ह्रास प्रारंभ हो गया है। जीवन धर्मप्रवणता के बजाय अर्थप्रवण हो गया है। पुरानी गुलामी प्रथा को विचारकों और सुधारकों ने समाप्त किया, किन्तु इस औद्योगिक सभ्यता ने उन गुलामों की वेतनभोगी दास-संस्कृति का निर्माण किया है जिस तरह अपने शिकार को पकड़ने के लिये बने अपने ही जाल में मकड़ी स्वयं फँसकर अधमरी सी हो जाती है। कुछ ऐसी ही अवस्था इस यंत्रसभ्यता ने मानव की कर डाली है। इस प्रकार सारी मानव जाति एक विचित्र चक्रव्यूह में फँस गयी है। इस पृष्ठभूमि में दीनदयाल जी ने एक बार विनम्रता से, किन्तु आत्मविश्वासपूर्वक कहा था – "भारतीय और भारत के बाहर के नाना विचार-प्रवाहों का सम्यक् विचार कर, और उन विचारों के सामर्थ्य एवं दुर्बलताओं को ध्यान में रखकर एकात्म मानव चिन्तन आगे का मार्ग दिखलाता है, जो मानव को आज तक के चिन्तन, अनुभव और सिद्धि आदि सभी बातों में आगे ले जायेगा।"

उस एकात्म विचार का विवेचन आगामी पृष्ठों में किया गया है।





3

व्यक्ति-विचार : चतुर्विध सुख

वर्षों पूर्व एक छोटी सी बोधकथा पढ़ी थी। एक बुद्धिमान किन्तु बड़े ही नटखट बालक को उसके पिता ने कम से कम कुछ समय के लिये एक स्थान पर चुपचाप बैठाने के लिये एक प्रयोग किया। उन्होंने विश्व का एक बड़ा मानचित्र लेकर उसके कई टुकड़े कर डाले। उन सब टुकड़ों को अपने पुत्र के सामने फैलाकर पिता बोले, "इन सब टुकड़ों को जोड़कर तुम इस नक्शे को पहले जैसा बनाकर दिखाओ।"

बालक को यह काम बहुत भाया। उसने उन सब टुकडों को लेकर नक्शे को फिर से जोड़ना प्रारंभ किया। किन्तु बहुत प्रयास करने के बाद भी किसी तरह वह नक्शा बन नहीं रहा था। संयोग से हवा का एक झोंका आया और वे टुकड़े उलट गये। बच्चे ने उन टुकड़ो की ओर ध्यान से देखा तो उसे उनमें एक मनुष्य की आकृति के कुछ भाग दिखाई दिये। बालक के मन में एक नयी कल्पना कौंध गयी। पिता जी द्वारा बताया गया मानचित्र जोड़ने का काम छोड़कर वह उस मनुष्य की आकृति को जोड़ने में जुट गया। कुछ ही देर में मनुष्य की आकृति पूरी हो गयी। यों ही कौतूहलवश उसने उस आकृति को उल्टी ओर से देखा और क्या आश्चर्य दुनिया का वह नक्शा बिल्कुल पहले जैसा जुड़ गया था।

इस कथा का आशय स्पष्ट है। एक बार मानव को ठीक से

जोड़ लिया तो दुनिया की गाड़ी सही ढंग से चलेगी। अब संभवतः प्रश्न यह उपस्थित होता है कि मनुष्य को जोड़ने का सही अर्थ क्या है? और इस प्रश्न का उत्तर खोजने चलें तो प्रश्नों की एक बड़ी तालिका सामने आ जाती है। उदाहरण के लिये पहला प्रश्न तो यह है कि मानव क्या है? फिर उसकी प्रकृति कैसी है? उसकी स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ कौन-कौन सी हैं? आवश्यकताएँ क्या हैं? उसके जीवन में जो कभी-कभी किसी न किसी प्रकार की विकृतियाँ उत्पन्न हो जाती हैं, वे क्यों होती हैं? उसके जीवन का लक्ष्य क्या है? अंतिम लक्ष्य क्या है? उस लक्ष्य की ओर जाने का मार्ग कौन सा है? वह मार्ग एक है या अनेक हैं? उस मार्ग पर चलने की दृष्टि से पोषक बातें कौन-कौन सी हैं? उसमें क्या-क्या बाधाएँ आ सकती हैं? कौन से संकट आ सकते हैं? उन पर विजय कैसे पायी जा सकती है? मनुष्य को जोड़ने का विचार करते समय इस प्रकार के असंख्य प्रश्नों का विचार करना पड़ेगा।

यह सारा विचार करते समय और एक बात ध्यान में लानी होगी कि इस विश्व में मनुष्य अकेला नहीं रहता। अन्य मानव भी रहते हैं। इसके अतिरिक्त जलचर और भूचर प्राणी भी होते हैं। वृक्ष, लताएँ, नदियाँ, पर्वत, और समुद्र भी हैं। आकाश में ग्रह, तारे हैं। इन सबका एक दूसरे के साथ कुछ संबंध है या नहीं? यदि है तो किस प्रकार का? क्या वे संबंध शत्रुता और संघर्ष के हैं? या उदासीनता के हैं? या मूलतः सहयोग, परस्पर पूरकता तथा एक दूसरे की पोषकता के हैं?

इस प्रकार समूचे विश्व के फैलाव का विचार करने पर और भी एक बात दिखाई देती है कि यहाँ विलक्षण विविधताएँ हैं। मानव सृष्टि, मानवेतर प्राणि-सृष्टि, वनस्पति-जीवन और अचेतन प्रतीत होने वाली सृष्टि में तो विविधता है ही, किन्तु मनुष्य-मनुष्य में, वनस्पति-वनस्पति में और अचेतन वस्तुओं में भी बड़ी विविधता है। और इतनी विविधता होने पर भी दुनिया का यह चक्र अपेक्षाकृत पर्याप्त सरलता से चल रहा है। पाँच-पचास या सौ-पाँच सौ वर्ष से नहीं, अपितु अनादि काल से वह चल रहा है। स्वाभाविक रूप से प्रश्न खड़ा होता है कि इन सब दिखाई देने वाली विविधताओं के पीछे इन सबको जोड़ने वाला, उनमें समन्वय

लाने वाला और संतुलन रखने वाला क्या कोई अदृश्य तत्त्व या शक्ति है? यदि है, तो उस तत्त्व या शक्ति का उन सबके साथ कैसा संबंध है? क्या यह संबंध मानव और सम्पूर्ण विश्व की एकात्मता का सूत्र है?

विश्व के मानचित्र पर मानव को जोड़ने का विचार करते समय इन सब बातों का सर्वकष विचार करना अपरिहार्य है। एकात्म मानव दर्शन ने भारतीय संस्कृति के (तत्त्वज्ञान के) प्रकाश में ऐसा सर्वांगीण विचार किया है। इतना ही नहीं, आधुनिक परिवेश में यही उसकी अनन्य विशेषता है।

एकात्म सूत्र

अब मानव के आदर्श एवं परिपूर्ण जीवन के संबंध में विचार करते समय सबसे पहले यह सोचना होगा कि सामान्यतः मानव कैसा है। यह विचार करते समय पहली बात ध्यान में आती है कि जीवित रहने की इच्छा ही मानव की प्रमुख स्वाभाविक प्रवृत्ति है। 'मरण प्रकृतिः शरीरिणाम् विकृतिर्जीवनमुच्यते', 'जीवन क्षणभंगुर है', 'संसार असार है', सुख राई जैसा और दुख पहाड़ जैसा है', इस प्रकार के कई वचन प्रचलित हैं। फिर भी उनके कारण मनुष्य की जीवित रहने की, दीर्घकाल तक जीवित रहने की इच्छा समाप्त नहीं हुई है। शरीर में जो अनादि, अनंत, अवध्य आत्मतत्त्व रहता है, वही इस सहज प्रवृत्ति का कारण हो सकता है। भारतीय संस्कृति ने मनुष्य की इस सहज प्रवृत्ति की उपेक्षा नहीं की है, न ही उसे धिक्कारा है। उल्टे 'जीवेत शरदः शतम्' उसका उद्घोष रहा है। गुरुजनों से जो आशीर्वाद प्राप्त किया जाता है उसमें भी 'दीर्घायुष्मान भव', 'चिरंजीव भव' जैसे स्वस्ति वचनों का प्रमुखता से जो समावेश है, वह भी इस दृष्टि से अर्थपूर्ण है।

किन्तु केवल दीर्घायुष्य से मनुष्य को संतोष नहीं होता। वह चाहता है कि यह दीर्घायुष्य सुखमय हो। जीवन भर वह जो लगातार दौड़धूप तथा प्रयास करता रहता है, वह सुखी जीवन के लिये ही होता है। उसके सारे विचार और व्यवहार इसी दृष्टि से चलते रहते हैं कि जीवन में अधिक से अधिक सुख कैसे प्राप्त होगा। हो सकता है कि प्रकृति, आयु, संस्कार, मन-बुद्धि का विकास तथा देश-काल-परिस्थिति

के अनुसार उसकी सुख की कल्पनाओं में और उसे प्राप्त करने के लिये किये जा रहे उसके प्रयासों की दिशा में अन्तर हो, किंतु यह बात निर्विवाद है कि अधिकाधिक सुख, निरामय तथा अविच्छिन्न सुख ही उसकी सारी दौड़धूप का लक्ष्य होता है।

सुख की एकांगी कल्पना

अखण्ड और अपरिमित सुख की यह भावना मानव की प्रवृत्ति के अनुसार ही है। किन्तु सामान्यतः दिखाई देता है कि मनुष्य की सुख की कल्पना प्रायः एकांगी हुआ करती है। उसकी भावना यह रहती है कि इंद्रियों द्वारा मिलने वाला सुख, अर्थात् शरीर का सुख, ही सम्पूर्ण सुख है। परिणामतः उसकी दौड़ इसी प्रकार का सुख अधिकाधिक मात्रा में प्राप्त करने की दिशा में चला करती है। रोगमुक्त शरीर, हाथ में भरपूर पैसा, रहने के लिये सभी सुख-सुविधाओं से युक्त घर, सुन्दर पत्नी, यथेच्छ होनहार सन्तान, अच्छा भोजन, उत्तम वस्त्राभूषण, नाटक-सिनेमा, रेडियो-टी.वी., कार आदि बातों की अनुकूलता तथा समाज में प्रतिष्ठा या अधिकार, यही सामान्यतः मनुष्य की सुखी जीवन के बारे में कल्पनाएँ हुआ करती हैं। संक्षेप में कहा जाये तो विविध विषय-भोगों की पूर्ति ही सुखसर्वस्व है, ऐसा उसका भाव बन गया है। अब यह सुख अधिकाधिक मात्रा में कैसे प्राप्त होगा? भौतिक आवश्यकताओं, इच्छाओं तथा वासनाओं की तृप्ति को ही सुख मानने की बात मन में गहरी बैठ गयी हो तो फिर भौतिक आवश्यकताओं को अधिकाधिक बढ़ाते जाना, इच्छा-वासनाओं को अधिकाधिक प्रक्षुब्ध करते जाना, उनकी पूर्ति के लिये आवश्यक अधिकाधिक साधन एकत्रित करते जाना और उन साधनों की प्राप्ति के लिये अधिकाधिक धन अर्जित करने को ही सुख का राजमार्ग मानने का उत्तर भी उसके मन में स्वाभाविक रूप से आ जाता है। 'सुखी व्यक्ति का कुर्ता' शीर्षक कहानी में सुख की जो कल्पना और साधना दी गयी है वह एक ओर रह जाती है और भौतिक सुख के साधन तथा उनके लिये आवश्यक धन-सम्पत्ति जिसके पास है, उसे ही अधिक सुखी मानने की कल्पना बल पकड़ती जाती है और फिर अधिकाधिक धनार्जन ही जीवन का प्रमुख लक्ष्य बन बैठता है।

भौतिक सुख के स्वरूप का विचार करने पर भी यह दिखाई देता है कि सुख के साधन और सुख की कामना के अनुपात से ही सुख प्राप्त करने का परिमाण निर्धारित होता है। गणित की भाषा में, सुख के साधनों को सुख की तृष्णा से भाग देने पर आने वाला उत्तर ही सुख होता है। (सुख=सुख के साधन/सुख की लालसा)। अर्थात् भौतिक कामनाओं से प्राप्त होने वाले सुख के बारे में तो –

न जातु कामः काम्यानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एव विवर्धते।।

(अर्थात् उपभोग से वासनाओं का शमन नहीं होता। उल्टे आहुति देने पर जैसे अग्नि और भी प्रज्जवलित हो जाती है, उसी प्रकार उपभोग के कारण वासनाएँ भी कम नहीं होतीं, बढ़ती ही जाती हैं।) अथवा 'तृष्णा न जीर्णा वयमेय जीर्णा' (अर्थात्' शरीर जर्जर और गलितगात्र हो जाय तब भी वासनाओं का वेग कम नहीं होता।) ऐसी अवस्था होने के कारण मनुष्य के सुख का गणित सदैव अपूर्णांकों में ही रहता है। उसका सुख का पात्र कभी पूरा भरता नहीं। वह यही सोचता रह जाता है कि सुख तो राई के समान है और दुख पहाड़ जैसा। जिनके पास प्रचण्ड सम्पत्ति है, ऐसे लोग भी सुखी, संतुष्ट होते ही हों, ऐसी बात नहीं। सम्पूर्ण, अखण्ड सुख सदा ही मनुष्य का प्रेय रहा है। सुख के प्रति उसका यह आकर्षण सहज और स्वाभाविक तो है ही, किन्तु उपर्युक्त समीकरण में अंश के स्थान पर स्थित सुख के साधन तो सीमित और उसी प्रकार सुखापभोग की व्यक्ति की क्षमता भी सीमित तथा हर के स्थान पर स्थित सुख की लालसा ज्यामिति के अनुपात में तेजी से बढ़ने वाली हो, तो ऐसी अवस्था में सुख का पूर्णांक कैसे हाथ लग सकता है? इसका उपाय गौतम बुद्ध ने सोचा और हर को छोटा करने के लिये उन्होंने वासनाओं के क्षय का उपदेश किया। हर जब शून्य पर आ जाये तो सुख सभी पूर्णांकों को लाँघकर असीम सुख में बदल जाता है।यह उनके उपदेश का सूत्र था। किन्तु सुख का यह समीकरण गणित की परिभाषा में भले ही ठीक हो, वासनाओं का सम्पूर्ण क्षय करना, सामान्य व्यक्ति के लिये तो असंभव सा है। बिल्कुल

निर्वाण-सुख प्राप्त करना हो, तब भी वहाँ तक पहुँचने के लिये कम से कम शरीर की रक्षा करना तो अपरिहार्य होता ही है। इसका अर्थ यह है कि शरीर की जो न्यूनतम आवश्यकताएँ होती हैं, जो क्षुधा-तृषा होती हैं, वे तो बनी ही रहेंगी। अर्थात् वासना-क्षय के मार्ग का विचार करने पर भी मूल प्रश्न बना रहता है।

वासना के अश्व को कहीं भी दौड़ने की पूरी छूट देना, या वासनाओं का पूर्णतः क्षय करने का प्रयत्न करना, दोनों ही एकदम छोर के विचार हैं। इनको एक ओर रखकर भारतीय संस्कृति ने सुख-प्राप्ति का समन्वित मार्ग दर्शाया है। पुरुषार्थों में अर्थ और काम, दोनों का समन्वय कर भौतिंक सुखों का मानवीय जीवन में जो स्थान है और जो उनकी महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है, उसको इस संस्कृति ने स्वीकारा है। किन्तु यह संस्कृति मात्र (इन्द्रियजन्य) भौतिक सुखों के पास आकर रुक नहीं जाती। शारीरिक सुखों के साथ ही उसने मन, बुद्धि, आत्मा के उन्नत सुखों का भी विचार किया है। मानवीय जीवन की परिपूर्णता के लिये इन सुखों की अपरिहार्यता का प्रतिपादन कर इस संस्कृति ने उसके द्वार मानव के लिए खोल दिये हैं। इन्द्रियजन्य सुखों से प्रारम्भ कर मन, बुद्धि का उन्नयन करते हुए, उन सुखों को भी अनुभव करते हुए घनीभूत परम सुख अर्थात् मोक्ष-प्राप्ति तक का प्रवास, एक यात्रा के रूप में हिन्दू संस्कृति ने मानव के सम्मुख रखा है।

मन का सुख

जीवन में भौतिक सुखों का महत्त्व निर्विवाद है। किन्तु कोई बात महत्त्व की होना एक बात है और उसे ही जीवन का सब कुछ या एकमेव लक्ष्य मानकर चलना दूसरी बात। भौतिक या इनिद्रयजन्य सुखों के बारे में भी यही सच है। मानव के जीवन में इन सुखों का महत्त्वपूर्ण स्थान है, किन्तु शरीर-सुख सुखसर्वस्व नहीं होता। मानव के शरीर के साथ मन भी हुआ करता है। विविध इन्द्रियों द्वारा वस्तुओं का स्वाद चखने के कारण प्राप्त होने वाले सुख की अनुभूति मानव मन के द्वारा ही करता है, यह सच है, फिर भी मन का भी अपना सुख-दुख हुआ करता है।

पंडित दीनदयाल जी इस संदर्भ में एक बड़ा रोचक कथानक सुनाते थे। अपने आपको कम्युनिस्ट कहने वाला एक व्यक्ति एक बार अपने मित्र को बड़े आग्रह के साथ यह समझाने का प्रयास कर रहा था कि मानव के जीवन में एकमात्र महत्त्व का प्रश्न रोटी का है। काफी देर तक उस मित्र ने उसकी बात सुन ली, किन्तु उसकी तोतारटंत रोके नहीं रुक रही थी। वह बोले ही जा रहा था। अन्त में ऊब कर उस मित्र ने कम्युनिज्म के उस चेले से कहा – "क्या तुम सचमुच यह मानते हो कि दुनिया में रोटी का प्रश्न ही एकमात्र महत्त्वपूर्ण प्रश्न है?" उस नौजवान ने तुरन्त उत्तर दिया – "निश्चय ही।" इस पर उस मित्र ने उससे कहा, "ठीक है। तुम्हारी रोटी की समस्या मैं हल किये देता हूँ। कल से तुम प्रतिदिन मेरे घर आया करो, मैं तुम्हें पेटभर बढ़िया भोजन खिलाऊँगा। किन्तु इसके साथ ही मेरी एक शर्त है कि सायंकाल भरी सड़क पर खड़ा करके मैं तुम्हें चार जूते लगाऊँगा।" वह नौजवान अवाक् होकर देखता ही रह गया। तब उस मित्र ने उत्तर दिया, "तुम्हारे विचार से तो सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न रोटी का ही है न उस प्रश्न को मैंने हल कर दिया। अब जाते-जाते तुम्हें मैंने चार जूते भी लगा दिये तो तुम्हें शिकायत क्यों होनी चाहिए? तुम्हारे सुख में इसके कारण बाधा क्यों आनी चाहिए?"

तात्पर्य यह है कि जैसे मनुष्य का शरीर होता है, वैसे ही मन भी होता है। मनुष्य के सुख का विचार करते समय, इस मन का भी एक सुख होता है, इसे भूलकर नहीं चलेगा। दूरगामी सीमा-प्रदेश में गश्त लगाने वाले सैनिक का मन अपने गाँव की चिट्ठी आते ही बाग-बाग हो जाता है, क्यों? महाराष्ट्र में प्रति वर्ष लाखों वारकरी (तीर्थयात्री) चिलचिलाती धूप और घनघोर वर्षा की परवाह न करते हुए पंढरपुर हो आते हैं, क्यों? रोग-बीमारी में सभी आधुनिक सुख-सुविधाएँ और परिचर्या के लिए वेतनभोगी परिचारिका के उपलब्ध होने पर भी शरीर पर ममत्व से हाथ फेरने वाला कोई अपने पास होना चाहिए, ऐसा रोगी को क्यों लगता है?

अच्छा काम करने पर शाबासी देते हुए कोई हमारी पीठ

थपथपाता है और प्रशंसा के चार शब्द सुनाता है तो कितना अच्छा लगता है! शिशु के तोतले बोल सुनकर माता को कितना आनन्द प्राप्त होता है! क्या यह सुख शारीरिक सुख या इन्द्रियजन्य सुख है? सुरीला संगीत सुनकर मिलने वाला सुख और उपर्युक्त सुख क्या एक ही प्रकार के सुख हैं? नहीं, ऐसा नहीं है। उसी प्रकार, कोई हमें गाली-गलौज करता है तो दुख होता है, क्रोध भी आता है। ऐसा क्यों होता है? उस गाली-गलौज के कारण हमारे शरीर को तो कोई चोट नहीं पहुँचती, पर फिर भी हमें दुख होता है, क्रोध आता है। ऐसा क्यों होता है? इसके विपरीत कई बार ऐसा भी देखने को मिलता है कि सुखोपभोग के सब साधन हाथ जोड़कर सामने खड़े होने पर भी मन उनमें रमता नहीं। ऐसा क्यों? सुख केवल शरीर का न होकर मन का भी होता है।

बुद्धि का सुख

किन्तु मानव के सुख के बारे में सोचते समय केवल शरीर और मन का विचार करने से भी काम नहीं चलेगा। यह तो ठीक है कि मानव के शरीर और मन हुआ करते हैं, किन्तु उसके साथ ही बुद्धि भी हुआ करती है। सुख शरीर का होता है, मन का होता है, उसी प्रकार बुद्धि का भी होता है।

मनुष्य की बुद्धि अन्य प्राणियों की तुलना में बहुत विकसित होती है। मानवेतर प्राणियों की बुद्धि आहार-निद्रा-भय-मैथुन या तत्सम सुखों अथवा आवश्यकताओं तक ही सीमित होती है। कल-आज-कल जैसे काल-परिवेशी विचारों, आकाँक्षाओं और जीवन की अनुभूतियों का संकलन, उनका अन्योन्याश्रित संबंध, उसमें से किये जाने वाले अनुमान, उन अनुमानों के अनुसार बनायी जाने वाली योजनाएँ, सामने दिखाई देने वाली सृष्टि की उत्पत्ति-स्थिति-विलय का कौतूहल आदि प्रश्न मानवेतर प्राणियों के सामने नहीं होते। अतः उनके बुद्धिजन्य सुख का क्षेत्र भी सीमित होता है। परन्तु मानव की बुद्धि इस प्रकार की नाना बातों की सतत टोह लेती रहती है। फलस्वरूप उसके शरीर और मन के सुख की भाँति, बुद्धि के सुख का रहस्य भी विशाल और व्यापक होता है।

पढ़ाई करते समय या कक्षा में पाठक जब पाठ पढ़ाते हैं, तब,

विद्यार्थियों के मन में एकाध संदेह उत्पन्न हो जाता है। विद्यार्थी उसके उत्तर की खोज करता रहता है किन्तु उत्तर उसे मिलता नहीं। कभी-कभी गणित में आने वाले प्रश्नों के समान किसी एक कूट प्रश्न पर वह थम जाता है। उत्तर खोजने के लिए वह नाना प्रकार से उल्टे-सीधे आँकड़ों की रचना करके देखता है। फिर भी प्रश्न सुलझता नहीं। कभी-कभी तो वह और अधिक उलझ जाता है। वह अशान्त हो जाता है और ऐसा करते-करते अकस्मात किसी समय अपने प्रश्न का उत्तर मिल जाता है। तब वह बड़ा आनंदित होता है। उसका मुखमण्डल खिल उठता है। निःसंदेह यह बुद्धि का सुख है।

बुद्धि के सुख के और भी कई प्रकार होते हैं। कोई बात हमें अच्छी प्रकार से ज्ञात रहती है। उदाहरण के लिए व्यक्ति या स्थान का नाम, कविता की कोई पंक्ति, किसी घटना का या व्याख्या का संदर्भ आदि। किन्तु अन्तिम समय पर उसका विस्मरण हो जाता है। सिर खुजाकर उसे खोजने का हम काफी प्रयास करते हैं, किन्तु कोई उपयोग नहीं होता। इस पर हम काफी अशान्त हो उठते हैं और फिर अचानक सिर में कहीं से प्रकाश आ जाता है। अब तक जो उधेड़बुन चल रही थी वह एकदम समाप्त हो जाती है। पूर्ण समाधान की साँस हम लेते हैं और हमें हल्का-हल्का सा अनुभव होता है। स्पष्टतः यह सुख बुद्धि का सुख है।

बुद्धि के सुख के ऐसे कई और भी उदाहरण दिये जो सकते हैं। शतरंज की बाजी बिछी होती है। बीच ही में किसी चाल पर खेल अड़ जाता है। हम काफी सिर खुजाते हैं, किन्तु चाल नहीं सूझती; कोई परिणाम नहीं निकलता और फिर अकस्मात् कोई अफलातून चाल हमारे ध्यान में आ जाती है। प्रतिपक्ष पर हम बाजी मार जाते हैं। "जितं मया" का संतोष प्राप्त हो जाता है। रणक्षेत्र की व्यूह-रचना करते समय तो बुद्धि की कसौटी और उससे उत्पन्न होने वाले यश-अपयश के सुख की अनुभूति कई बार होती है। किन्तु मानव की बुद्धि की भूख दैनिक जीवन में उत्पन्न होने वाले जटिल प्रश्नों का हल करने या शतरंज के खेल में चली जाने वाली किसी चाल या रणक्षेत्र की व्यूह-रचना तक

ही सीमित नहीं होती। इस सम्पूर्ण विश्व की कूट पहेलियाँ सुलझाने के लिये भी उसका संचार सर्वत्र होता रहता है। इस सारे विश्व के निर्माण का मूल क्या है? उसका निर्माण कैसे हुआ? किसने किया? इस विश्व में जो अगणित घटनाएँ दिन-रात घटती रहती हैं, उनके पीछे क्या किसी निश्चित सूत्र की उपस्थिति है? वह सूत्र स्वयं चलता है या उसका कोई नियंत्रक है? हमारी इस ज्ञात सृष्टि से परे क्या कोई और भी संसार, कोई और सृष्टिमालिका है? और यह सारा अजस्र चक्र आज कहाँ जा रहा है? उसका क्या कभी अन्त होगा? कैसे होगा? कब होगा? ऐसे अगणित प्रश्नों के उत्तर खोजने की भूख मानव-बुद्धि को होती है और इन प्रश्नों के उत्तर प्राप्त होने पर उसे परम संतोष प्राप्त होता है। तत्त्वज्ञों और वैज्ञानिकों को उनके गहन प्रश्नों के उत्तर मिलने पर प्राप्त होने वाला आनन्द बुद्धि के उच्चतर सुख का प्रमाण है। स्नानगृह में स्नान करने बैठा आर्कमिडीज सापेक्ष घनत्व का रहस्य सुलझते ही 'यूरेका, यूरेका' चिल्लाता हुआ स्नानगृह से बाहर आकर दौड़ने लगा। वह इसी बुद्धि-सुख के उल्लास के कारण ही।

बुद्धि के सुख का विचार करते समय उसके एक और पक्ष को भी ध्यान में लाना आवश्यक है। बुद्धि की विशेषता यह है कि वह व्यवसायात्मिका होती है। सरल शब्दों में कहना हो तो विधिनिषेध (हाँ-ना) के बारे में निश्चयात्मक निर्णय करना बुद्धि का काम होता है मन संकल्प-विकल्पात्मक होता है तो बुद्धि व्यवसायात्मिका होती है। परमात्मा ने मानव को यह बुद्धि दी है। उसके कारण वह क्षणिक सुख और दीर्घकालीन या चिरंतन सुख, संकुचित सुख एवं व्यवहारिक सुख के पीछे क्या अन्तर है समझ सकता है और क्षणिक या संकुचित सुख के व्यामोह में न फँसता हुआ चिरंतन और व्यवहारिक सुख का मार्ग स्वीकार करता है, भले ही वह मार्ग कण्टकाकीर्ण क्यों न हो। 'जे दिव्य दाहक म्हणोनि असावयाचे, बुध्याचि वाण धरिले करि हे सतीचे', यह स्वातंत्र्य-वीर सावरकर की काव्य-पंक्ति इस संदर्भ में पर्याप्त अर्थवाहिका है।

गोस्वामी तुलसीदास की कथा इस संदर्भ में उल्लेखनीय है।

तुलसीदास को अपनी पत्नी के प्रति इतना प्रगाढ़ प्रेम था कि उसका विरह वे पलभर के लिए भी सह नहीं सकते थे। एक बार वे मायके गयीं। तुलसीदास जी से रहा नहीं गया। वे पत्नी से मिलने के लिये निकल पड़े। बरसात के दिन थे। मार्ग में एक बड़ी नदी पड़ी। नदी में भीषण बाढ़ आयी थी। रात का समय हो गया था, नाव नहीं मिल रही थी। प्रवाह के साथ-साथ एक शव बहता आ रहा था। उस शव को पकड़कर तुलसीदास नदी पार कर गये। अँधेरे में ठोकरें खाते-खाते किसी प्रकार ससुराल पहुँचे, किन्तु द्वार बन्द था। ऊपर कैसे जायें? तभी खिड़की में से एक भारी मोटा रस्सा लटका हुआ उन्होंने देखा। उस रस्से के सहारे चढ़कर वे खिड़की से शयनकक्ष में प्रविष्ट हो गये। इतनी ठंडी अँधेरी वर्षाती रात में तुलसीदास को अचानक आया देखकर पत्नी को बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने कहा, "इतने आँधी-पानी में आप यहाँ तक पहुँच कैसे गये?" तब तुलसीदास जी ने, उन्होंने नदी को कैसे पार किया, वह सारी घटना सुनायी और कहा - "और खिड़की में से ऊपर आने के लिए तुम्हीं ने तो रस्सा टाँग रखा था।" "रस्सा! कैसा रस्सा?" पत्नी ने चौंककर पूछा। खिड़की के पास जाकर उसने देखा कि वहाँ रस्सा नहीं, एक मोटा साँप वर्षा के कारण ठिठुरकर खिड़की के सहारे लटक रहा था। उस काल-सर्प को देखकर ही सारी बात तुलसीदास की पत्नी के ध्यान में आ गयी और वह धक् सी रह गयी। उसने तुलसीदास जी से कहा - "हाड़-मांस की इस नाशवाद गठरी के कारण आप इतने पागल हो गये हैं। ऐसा पागलपन आप परमात्मा के चरणों में लगाते तो आपका जीवन सार्थक हो जाता।" पत्नी के ये शब्द सुनकर तुलसीदास जी की विवेक-बुद्धि के किवाड़ खुल गये। श्रेयस् के और उनके मध्य खड़ी पत्नी के प्रति आसक्ति की दीवार देखते-ही-देखते ढहकर गिर गयी। चिरंतन परमसुख (मोक्ष) का मार्ग खुल गया। वे 'गोस्वामी' बन गये। सदियों की सीमाएँ लाँघकर करोड़ों लोगों के जीवन को प्रकाशमान करने वाली तुलसी-रामायण जैसी महान् रचना उन्हीं तुलसीदास की प्रतिभा की उपज है।

आत्मा का सुख

भारतीय चिंतन बुद्धि के सुख तक आकर भी थम नहीं जाता।

इसके अनुसार बुद्धि के सुख से भी श्रेष्ठतर और एक सुख है। वह है आत्मसुख। मनुष्य के शरीर, मन, बुद्धि के साथ ही आत्मा भी है। इसलिए मनुष्य के सुख का विचार करते समय आत्मसुख का विचार भी आवश्यक हो जाता है।

यहाँ पूछा जा सकता है कि आत्मा तो दिखाई नहीं देता तो वह है, यह कैसे मान लें? कुछ पाश्चात्य विचारकों और प्राच्य दार्शनिकों ने यह प्रश्न उपस्थित किया भी है। किन्तु शरीर-मन-बुद्धि, तीनों में मन और बुद्धि का अस्तित्व पंचज्ञानेन्द्रियों को भी कहाँ अनुभव होता है। फिर भी उनके अस्तित्व को मानकर ही हम मनुष्य का विचार करते हैं न? यदि मन और बुद्धि का अस्तित्व हम मानकर चलते हैं तो उसी न्याय से आत्मा के अस्तित्व को भी स्वीकार करने में कोई भी तार्किक कठिनाई नहीं आनी चाहिए। किन्तु वास्तव में कठिनाई कुछ और ही है। यह मान भी लिया जाय कि आत्मा का अस्तित्व है तो भी प्रश्न खड़ा होता है कि आत्मा वास्तव में है क्या वस्तु? वह कैसा होता है? कहाँ रहता है? आदि अनेक प्रश्न उपस्थित होते हैं। सामान्य व्यक्ति इस विषय में अधिक गहराई में जाना नहीं चाहता। घर-गृहस्थी की धकापेल में आत्म-चिंतन की आवश्यकता उसे प्रतीत नहीं होती। उसके मतानुसार आत्मा का विचार करना ही हो तो वह "अंग गलितं, पलितं मुण्डं, दशनविहीनं जातं तुण्डम्" जैसी जर्जर अवस्था होने पर ही करना चाहिए। हमारे यहाँ आत्मा का वर्णन उसे अशरीरी, निर्गुण और निर्लेप कहकर किया गया है। रसायन शास्त्र के अनुसार कुछ वायु रंगहीन, रसहीन और गंधहीन होती है। यह आत्मा भी इन्द्रियों के लिए तो वैसा ही होता है। अब इसके कारण यह उधेड़-बुन और भी उलझ जाती है। स्वयं गीता के रचनाकार ने भी "इन्द्रियाणि पराण्याहः इन्द्रियेभ्य परं मनः। मनसस्तु पराबुद्धिः यो बुद्धेः परतस्तु सः" - ऐसा आत्मा के बारे में कह रखा है। अतः आत्मा के पंच इंद्रियों, मन तथा बुद्धि के परे होने के कारण सामान्य मनुष्य को यदि वह अनाकलनीय लगे तो आश्चर्य की कोई बात नहीं। किंतु सामान्य मानव को अपनी पंचेन्द्रियों अथवा मन या बुद्धि से उसका आकलन नहीं होता इसलिए उसके अस्तित्व को नकारना

तुलसीदास को अपनी पत्नी के प्रति इतना प्रगाढ़ प्रेम था कि उसका विरह वे पलभर के लिए भी सह नहीं सकते थे। एक बार वे मायके गयीं। तुलसीदास जी से रहा नहीं गया। वे पत्नी से मिलने के लिये निकल पड़े। बरसात के दिन थे। मार्ग में एक बड़ी नदी पड़ी। नदी में भीषण बाढ़ आयी थी। रात का समय हो गया था, नाव नहीं मिल रही थी। प्रवाह के साथ-साथ एक शव बहता आ रहा था। उस शव को पकड़कर तुलसीदास नदी पार कर गये। अँधेरे में ठोकरें खाते-खाते किसी प्रकार ससुराल पहुँचे, किन्तु द्वार बन्द था। ऊपर कैसे जायें? तभी खिड़की में से एक भारी मोटा रस्सा लटका हुआ उन्होंने देखा। उस रस्से के सहारे चढ़कर वे खिड़की से शयनकक्ष में प्रविष्ट हो गये। इतनी ठंडी अँधेरी वर्षाती रात में तुलसीदास को अचानक आया देखकर पत्नी को बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने कहा, "इतने आँधी-पानी में आप यहाँ तक पहुँच कैसे गये?" तब तुलसीदास जी ने, उन्होंने नदी को कैसे पार किया, वह सारी घटना सुनायी और कहा - "और खिड़की में से ऊपर आने के लिए तुम्हीं ने तो रस्सा टाँग रखा था।" "रस्सा! कैसा रस्सा?" पत्नी ने चौंककर पूछा। खिड़की के पास जाकर उसने देखा कि वहाँ रस्सा नहीं, एक मोटा साँप वर्षा के कारण ठिठुरकर खिड़की के सहारे लटक रहा था। उस काल-सर्प को देखकर ही सारी बात तुलसीदास की पत्नी के ध्यान में आ गयी और वह धक् सी रह गयी। उसने तुलसीदास जी से कहा - "हाड़-मांस की इस नाशवाद गठरी के कारण आप इतने पागल हो गये हैं। ऐसा पागलपन आप परमात्मा के चरणों में लगाते तो आपका जीवन सार्थक हो जाता।" पत्नी के ये शब्द सुनकर तुलसीदास जी की विवेक-बुद्धि के किवाड़ खुल गये। श्रेयस् के और उनके मध्य खड़ी पत्नी के प्रति आसक्ति की दीवार देखते-ही-देखते ढहकर गिर गयी। चिरंतन परमसुख (मोक्ष) का मार्ग खुल गया। वे 'गोस्वामी' बन गये। सदियों की सीमाएँ लाँघकर करोड़ों लोगों के जीवन को प्रकाशमान करने वाली तुलसी-रामायण जैसी महान् रचना उन्हीं तुलसीदास की प्रतिभा की उपज है।

आत्मा का सुख

भारतीय चिंतन बुद्धि के सुख तक आकर भी थम नहीं जाता।

इसके अनुसार बुद्धि के सुख से भी श्रेष्ठतर और एक सुख है। वह है आत्मसुख। मनुष्य के शरीर, मन, बुद्धि के साथ ही आत्मा भी है। इसलिए मनुष्य के सुख का विचार करते समय आत्मसुख का विचार भी आवश्यक हो जाता है।

यहाँ पूछा जा सकता है कि आत्मा तो दिखाई नहीं देता तो वह है, यह कैसे मान लें? कुछ पाश्चात्य विचारकों और प्राच्य दार्शनिकों ने यह प्रश्न उपस्थित किया भी है। किन्तु शरीर-मन-बुद्धि, तीनों में मन और बुद्धि का अस्तित्व पंचज्ञानेन्द्रियों को भी कहाँ अनुभव होता है। फिर भी उनके अस्तित्व को मानकर ही हम मनुष्य का विचार करते हैं न? यदि मन और बुद्धि का अस्तित्व हम मानकर चलते हैं तो उसी न्याय से आत्मा के अस्तित्व को भी स्वीकार करने में कोई भी तार्किक कठिनाई नहीं आनी चाहिए। किन्तु वास्तव में कठिनाई कुछ और ही है। यह मान भी लिया जाय कि आत्मा का अस्तित्व है तो भी प्रश्न खड़ा होता है कि आत्मा वास्तव में है क्या वस्तु? वह कैसा होता है? कहाँ रहता है? आदि अनेक प्रश्न उपस्थित होते हैं। सामान्य व्यक्ति इस विषय में अधिक गहराई में जाना नहीं चाहता। घर-गृहस्थी की धकापेल में आत्म-चिंतन की आवश्यकता उसे प्रतीत नहीं होती। उसके मतानुसार आत्मा का विचार करना ही हो तो वह "अंग गलितं, पलितं मुण्डं, दशनविहीनं जातं तुण्डम्" जैसी जर्जर अवस्था होने पर ही करना चाहिए। हमारे यहाँ आत्मा का वर्णन उसे अशरीरी, निर्गुण और निर्लेप कहकर किया गया है। रसायन शास्त्र के अनुसार कुछ वायु रंगहीन, रसहीन और गंधहीन होती है। यह आत्मा भी इन्द्रियों के लिए तो वैसा ही होता है। अब इसके कारण यह उधेड़-बुन और भी उलझ जाती है। स्वयं गीता के रचनाकार ने भी "इन्द्रियाणि पराण्याहः इन्द्रियेभ्य परं मनः। मनसस्तु पराबुद्धिः यो बुद्धेः परतस्तु सः" - ऐसा आत्मा के बारे में कह रखा है। अतः आत्मा के पंच इंद्रियों, मन तथा बुद्धि के परे होने के कारण सामान्य मनुष्य को यदि वह अनाकलनीय लगे तो आश्चर्य की कोई बात नहीं। किंतु सामान्य मानव को अपनी पंचेन्द्रियों अथवा मन या बुद्धि से उसका आकलन नहीं होता इसलिए उसके अस्तित्व को नकारना

तर्कसंगत नहीं होगा, या केवल इसी कारण वह बात कम महत्त्व की नहीं हो जायेगी। कुछ बातें केवल अतीन्द्रिय अनुभूति में आने वाली होती हैं। उन्हें आत्मस्वरूप अनुभूति के सहारे ही "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" रूप में ही जानना पड़ता है। हमारे यहाँ ऋषि-मुनियों और साधु-सन्तों ने यह अनुभूति की है। भारत-भूमि साक्षात्कार की भूमि मानी गयी है। यही नहीं, आत्मज्ञान ही सर्वश्रेष्ठ ज्ञान है, उसी में प्रथम सुख है, ऐसा भी हमारे यहाँ कहा गया है। उन्होंने आग्रहपूर्वक कहा है कि आत्मा श्रवण, मनन और ध्यान के द्वारा देखे जाने योग्य है। समर्थ रामदास ने तो ज्ञान ही अध्यात्म है, ऐसी व्याख्या कर रखी है। पंडित दीनदयाल जी ने एक स्थान पर इस दृष्टि का विस्तृत वर्णन किया हुआ है। पंडित जी कहते हैं:-

"केवल प्रारम्भिक आवश्यकताओं की पूर्ति ही मानव-जीवन का उद्देश्य नहीं है। भौतिक आवश्यकताओं के साथ ही मनुष्य की आधिभौतिक और आध्यात्मिक आवश्यकताएँ भी होती हैं। केवल साँस चलती रखने के परे मानब जीवन का एक निश्चित और सबसे निराला लक्ष्य होता है। उपनिषदों ने इसे लक्ष्य का वर्णन "आत्मा वाअरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः मन्तव्यः निदिध्यासितव्यः" - इन शब्दों में किया है। किन्तु आत्मा के सही स्वरूप के बारे में विभिन्न विचारधाराएँ हैं। अनेक विचारकों ने इस विश्व का आदिकारण और उसका कर्ता-धर्ता-हर्ता, सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापी, परब्रह्म परमेश्वर माना है। वहीं अखिल विश्व-संचालक, एकमेव शक्ति है। परब्रह्म अपने में परिपूर्ण होने तथा सत्यम् शिवम् सुन्दरम् की पूर्ण अनुभूति होने के कारण मानव इन गुणों की ओर आकर्षित होता रहता है और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में इन गुणों की आंशिक अनुभूति लेते हुए पूर्ण साक्षात्कार के लिए वह प्रयत्नशील रहता है। किन्तु कतिपय विद्वानों को इस अदृश्य शक्ति में विश्वास नहीं। उनके मत में केवल दृश्य जगत् ही एकमेव सत्य है। ये लोग भौतिक सुख-साधनों से युक्त जीवन को चरम लक्ष्य मानकर उन सुखों की प्राप्ति के लिए आवश्यक प्रयास करते रहने में ही मानव-जीवन की सार्थकता मानते हैं। इन लोगों को ईश्वर का अस्तित्व ही स्वीकार नहीं।

आत्म स्वरूप

किन्तु कुछ गहराई में जाकर सोचें तो हमारे ध्यान में आयेगा कि मानव-मानव में एकता का अनुभव कराने वाला और सभी मानवों का जीवन सुखी हो-ऐसी जो मानव मात्र की इच्छा दिखाई देती है, उसका प्रेरक, निश्चय ही इस दृश्यमान जगत् से निराला कोई इंद्रियातीत परमतत्त्व अवश्य ही होगा। वह तत्त्व इस दिखाई देने वाले जगत् में व्याप्त है और वही हर प्राणी के अन्तःकरण में सम्पूर्णतः एकात्मता की भावना का निर्माण करता है। इस शक्ति को आप चाहे जो नाम दे दें, एक बात स्पष्ट है कि उसी के साथ एकरूप होने की दिशा में प्रत्येक मनुष्य जाने-अनजाने में चलता रहता है। मानव मात्र के कल्याण की भावना किसी स्वार्थ-भावना का परिणाम नहीं है। वह आत्मानुभूति की इच्छा और बोध का परिणाम है। मनुष्य अज्ञानवश उस आत्मशक्ति को संकुचित करने का प्रयास करता है, किन्तु उस परम तत्त्व की सर्वात्मकता उसका यह अज्ञान दूर करने के लिए निरंतर प्रयत्नशील रहती है।"

-राष्ट्रजीवन की दिशा

पंडित दीनदयालजी के उपर्युक्त उद्धरण से आत्मा का स्वरूप, आत्म-सुख की दिशा और एकात्म मानव दर्शन में इस सुख की अनुभूति को प्राप्त अनन्य स्थान काफी कुछ स्पष्ट हो जायेगा। दीनदयाल जी के लेखों में अन्यत्र भी दो-एक स्थान पर इस संदर्भ में निम्नानुसार उल्लेख आया है:- "व्यक्ति शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा का समुच्चय है। व्यक्ति के सर्वांगीण विकास की बात करते हुए इन चारों बातों की ओर ध्यान जाना आवश्यक है। शरीर-मन-बुद्धि-आत्मा के सुख क्रमशः निर्वाह के साधन, शांति, ज्ञान तथा तादात्म्य-भाव के सहारे प्राप्त होते हैं।" यहाँ आत्मा के सुख का संबंध तादात्म्य-भावना के साथ जोड़ा गया है जिसे एकात्म मानवदर्शन के संदर्भ में हमें ध्यान में लेना होगा। एक अन्य स्थान पर वे कहते हैं- "बुद्धि का सुख भी अंतिम और चिरानन्द-सुख नहीं है। बुद्धि के सुख से भी श्रेष्ठ होता है आत्मा का सुख। माँ अपने बच्चे को गोद में लेकर इसी आत्मिक सुख का अनुभव करती है। यह

सुख आत्मा की विशालता का सुख होता है। एक बार इस सुख को पहचान लिया तो मनुष्य उसकी खोज में अधिकाधिक विशालता को स्वीकार करता जाता है।

उपर्युक्त उद्धरण में 'परम तत्त्व की सर्वात्मकता', 'तादात्म्य भाव', 'अधिकाधिक विशालता' आदि शब्द आते हैं। वे, एकात्म मानव दर्शन को, पंडित दीनदयाल जी ने आध्यात्मिक विचार का अधिष्ठान कैसे दिया था, इसे स्पष्ट करते हैं। "मैं शरीर, मन और बुद्धि नहीं हूँ, प्रत्युत् इन सबसे परे रहने वाला आत्मा ही मेरा वास्तविक स्वरूप है-यह अनुभूति, अर्थात् आत्मज्ञान होना ही आत्मसुख है। एकात्म मानव दर्शन में वह अपेक्षित और आवश्यक तो है ही, किन्तु साथ ही यह अनुभव करते हुए कि मुझमें जिस परम तत्त्व का अंश है वही अन्य लोगों में भी बसता है, इस अनुभूति से उत्पन्न होने वाले शरीर-मन-बुद्धि के स्वाभाविक व्यवहार को भी भारतीय जीवन-विचार के अनुसार रखना इस दर्शन में अभिप्रेत है। इस प्रकार के स्वार्थनिरपेक्ष और निर्मल व्यवहार से प्राप्त होने वाला परम सुख ही आत्मा का सच्चा सुख है।

आत्मसुख का व्यापक स्वरूप

इस आत्मसुख का ऐसा नाता है 'सर्वात्मकता', 'तादात्म्यभाव' और अधिकाधिक विशालता के साथ। यह तादात्म्य और यह व्यवहार मुझे कौन सा और कितना शरीर, मन, बुद्धि का सुख या दुख देता है, इसे मापा नहीं जा सकता। अपितु इन सब गणनाओं के परे रहने वाला सुख ही यथार्थ में आत्मीय सुख होता है। अधिकाधिक विशालता के मार्ग पर चलते-चलते मनुष्य सर्वात्मकता की अवस्था तक पहुँच गया तो फिर मैं और तू का भाव, अपने-पराये का भाव समाप्त हो जाता है। इस प्रकार द्वैत से परे की अवस्था में मानसिक अस्वस्थता का कारण बनने वाले स्वार्थ और भय आदि की भावना निर्मूल हो जाती है। काम-क्रोधादि षड्विकार हतबल हो जाते हैं, और इस प्रकार स्वार्थमुक्त, भयमुक्त और विकाररहित हो जाने के बाद निरुपाधिक, निरुपम आनंद के अतिरिक्त कुछ भी शेष नहीं रहता। "आनंद के डीह में आनंद तरंग। आनंद ही अंग आनंद का"- ऐसा इस अवस्था का वर्णन हमारे संतों ने किया है।

अब तक हमने मनुष्य के चतुर्विध सुखों का विचार किया। निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि जैसे मनुष्य का शरीर होता है, उसी प्रकार मन, बुद्धि, आत्मा भी होते हैं। भूखे पेट स्वादिष्ट भोजन मिलने पर, चिलचिलाती धूप से आने के बाद ठंडा पानी मिल जाने पर जो सुख और संतोष मिलता है, प्रिय स्वजनों के पत्र से या मिलन से जो सुख प्राप्त होता है, श्रेष्ठ शास्त्रीय ग्रंथ के पठन से जो आनंद मिलता है और साक्षात्कारी सत्पुरुष की कृपा से जो परमानंद प्राप्त होता है, शायद सब भिन्न-भिन्न प्रकार के सुख हैं। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि ये विविध सुख अलग-अलग खानों में बंद रहते हैं। वास्तव में वे एक दूसरे से भलीभाँति संलग्न होते हैं और यही स्वाभाविक भी है। इसका कारण यह है कि शरीर के एक कोने में मन, दूसरे में बुद्धि, तीसरे में आत्मा, ऐसा कोई विभाजन नहीं हुआ करता। इसलिए उनसे प्राप्त होने वाले सुख भी अलग-अलग सीमाओं में बन्द नहीं हो सकते, और होते भी नहीं। भूखे को हम अपनी रोटी का आधा या चौथा टुकड़ा देते हैं तो उसे लेने वाले को शारीरिक तथा मानसिक तृप्ति अनुभव होती है और देने वाले को भी अपने पास जो कुछ था प्रत्यक्ष में उसे गँवाकर भी अधिक सात्विक संतोष प्राप्त होता है। माँ जब अपने भूखे शिशु को स्तनपान कराती है तब उस अबोध शिशु को भूख मिट जाने के कारण शारीरिक सुख तो मिलता है, किन्तु उसके साथ ही वत्सलता की भावना से सुख-समाधि का एक अनूठा आनंद दोनों एक ही साथ अनुभव करते हैं।

मानव में विविध सुखों की यह जो भूख होती है उसे ही ध्यान में लेकर मन, शरीर, बुद्धि और आत्मा की दृष्टि से उनका विचार न करते हुए हमारे यहाँ (दैशिक) शास्त्रकारों एवं साहित्यकारों ने एक निराली दृष्टि से उसका विवेचन किया है। उनका कहना संक्षेप में यही है कि आहार, निद्रा, कामपूर्ति आदि के कारण होने वाले सुख की अनुभूति मनुष्य और पशुओं में समान होती है। मानव और मानवेतर प्राणी में मुख्य अंतर यही है कि मनुष्य के सामने कुछ न कुछ उच्च जीवन-लक्ष्य हुआ करता है। यही लक्ष्य मानव की मनुष्यता है। आहार,

निद्रा आदि में ही रमने वाला लक्ष्यहीन मनुष्य निरा पशु ही होता है। अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए मनुष्य सदैव प्रत्यनशील होता है। लक्ष्य-प्राप्ति जैसे-जैसे निकट आती जाती है, वैसे-वैसे उसे अधिकाधिक संतोष मिलने लगता है। लक्ष्य प्राप्त होने पर उसे कृतार्थता की अनुभूति होती है। वह प्राप्त नहीं हुआ तो उसे दुख होता है।

मनुष्य के जीवन का लक्ष्य तात्कालिक, दीर्घकालीन या दोनों प्रकार का हो सकता है। उसका संबंध शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा के साथ भी जुड़ा रह सकता है या इनमें से कुछ के साथ ही वह संबंधित हो सकता है। एक व्यक्ति या व्यक्ति-समूह के कल्याण-अकल्याण के साथ भी वह सम्बद्ध हो सकता है या सम्पूर्ण मानव जाति के हित-अहित के साथ भी निगड़ित हो सकता है। इससे यह तो सहज ही माना जा सकता है कि जैसा जिसका लक्ष्य होगा, वैसा ही उसका व्यवहार और व्यवहार का कुल स्वरूप होगा। जीवन का लक्ष्य उदात्त और व्यापक हो तो शरीर, मन, बुद्धि आदि के सारे व्यवहार जीवन के सर्वांगीण तथा एकात्म विकास के लिए पोषक सिद्ध होंगे। इसके विपरीत यदि जीवन का लक्ष्य एकांगी हो, अपने और अपने परिवार का अधिकाधिक भौतिक सुख प्राप्त करने तक ही सीमित हो, तो शरीर, मन, बुद्धि की सभी शक्तियाँ उसी एक दिशा में कार्यरत होंगी और जीवन का सारा संतुलन ही समाप्त हो जायेगा।

एकात्म मानव दर्शन के परिवेश में कहना हो तो यह लक्ष्य व्यक्ति के साथ-साथ सारे मानव-समुदाय और मानवेतर संसार -दोनों के एकात्म जीवन के विकास के लिए पोषक होना चाहिए। वैसा वह है भी। धर्म के प्रति अविरोधी भौतिक सुखों के साथ-साथ आध्यात्मिक सुखों की अनुभूति, इस दर्शन में निहित, मानव के व्यक्तिगत स्तर का लक्ष्य है और व्यक्ति के ममत्व भरे व्यवहार की परिधि को 'अहम्' से लेकर 'वयम्' की दिशा में बढ़ाते हुए विश्व-मानव तक और उससे भी आगे जड़-चेतन संसार को व्याप्त करके अन्ततः परमेष्ठि तक पहुँचाना ही समष्टि की दृष्टि से विचार और आचार का परम लक्ष्य है।

इस दर्शन का महत्त्वपूर्ण अंग भौतिक प्रगति के साथ ही

आध्यात्मिक उन्नति भी है। इसीलिए उसके बारे में थोड़ा स्पष्टीकरण उचित होगा। आत्मा की भाँति अध्यात्म के बारे में भी अनेक लोगों के मन में विपरीत धारणा हुआ करती है। इस शब्द के चारों ओर एक रहस्यमय वलय हमें दिखाई देता है। सामान्य जन की सामान्य धारणा यह होती है कि अध्यात्म का अर्थ ध्यान, धारणा और सर्वसंग-परित्याग है और इसलिए यह उसके वश की बात नहीं है। आध्यात्मिक प्रगति चाहने वाले साधक की दृष्टि से ध्यान, धारणा, जप-तप आदि बातों का महत्त्व तो होता है, किन्तु अन्ततोगत्वा ये सब अधिकाधिक अनुभूति के साधन मात्र हैं। अत: अध्यात्म का वास्तविक अर्थ क्या है, यह देखना आवश्यक है। भगवत्गीता के आठवें अध्याय के प्रारम्भ में अर्जुन ने "किं तद् ब्रह्म" - इस प्रश्न के साथ ही "किम्ध्यात्म" (अध्यात्म क्या है?), ऐसा एक प्रश्न श्रीकृष्ण से किया है और भगवान श्रीकृष्ण ने, "स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते" (प्रत्येक वस्तु का जो मूल भाव, स्व-भाव है, उसे अध्यात्म कहते हैं), ऐसा उत्तर दिया है। इस दृष्टि से मानव के संदर्भ में आध्यात्मिक उन्नति का अर्थ होगा- उसे अपने मूल भाव या 'स्वरूप' अर्थात् निर्गुण, निराकार, सर्वव्यापी परम तत्त्व का अधिकाधिक बोध होते जाना। इस प्रकार व्यक्ति को अपने मूल स्वरूप का बोध होने लगा तो उसके साथ ही उसे यह भी बोध होने लगता है कि जिस परमात्मा का अंश मुझमें है उसी का अंश अन्य लोगों में भी है। फिर धीरे-धीरे हर व्यक्ति में भगवान देखने की अवस्था मन को प्राप्त होने लगती है। समाज उसी परमेश्वर का चलता-फिरता रूप है और उस समाज-पुरुष की सेवा पुरुषोत्त्म की अर्थात् परमात्मा की पूजा है, यह धारणा मन में पक्की हो जाती है। यही आध्यात्मिक उन्नति है। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होगा कि एकात्म मानव दर्शन का व्यक्तिगत स्तर पर जो लक्ष्य है वह समष्टि स्तर के लक्ष्य से स्वतंत्र या भिन्न न होकर एक ही जीवन-पट का ताना-बाना है।

स्थूल से सूक्ष्म की ओर

मनुष्य केवल शरीर नहीं है। शरीर के साथ उसके मन, बुद्धि, आत्मा भी हैं। जैसे शरीर का सुख होता है, उसी प्रकार मन, बुद्धि और

आत्मा का भी होता है। इसका विस्तारपूर्वक विवेचन हमने अब तक किया। किन्तु दिखाई यह देता है कि मनुष्य की सारी दौड़-धूप प्रमुखता से इन्द्रियजन्य सुख के लिये ही चलती है ऐसा क्यों? वस्तुतः आहार, निद्रा, रति आदि शारीरिक भूखों की तृप्ति से प्राप्त होने वाले सुखों के लिए नाना प्रकार के बाहरी साधनों की आवश्यकता होती है। उनकी तुलना में मन, बुद्धि, आत्मा के सुखों के लिये उत्तरोत्तर कम साधनों की आवश्यकता प्रतीत होती है। दूसरी बात यह है कि शारीरिक भूखों की तृप्ति से प्राप्त होने वाले सुख अर्थात् इन्द्रियजन्य सुख क्षणिक या अल्पजीवी होते हैं। इसके विपरीत दूसरी श्रेणी में आने वाले सुख अधिकाधिक दीर्घकाल तक रहने वाले और अन्ततः चिरंतन सुख में परिणत होने वाले होते हैं। परन्तु इतने पर भी मनुष्य की दौड़ अपनी ही नाभि में रहने वाली कस्तूरी की खोज में दौड़ने वाले कस्तूरी मृग के समान बाहर के स्थूल विषयों से प्राप्त होने वाले इन्द्रियजन्य सुखों की ओर ही क्यों होती है? इसका प्रमुख कारण यह है कि शारीरिक सुखों की भूख मनुष्य में अपने आप जागती है। 12 बजते ही पेट में चूहे कूदने लगते हैं। यौवन प्राप्त होने पर रति-सुख की ओर आकर्षण बढ़ता जाता है। शरीर के थक जाने पर नींद रोके नहीं रुकती। इन भूखों के तृप्त होने पर उस समय तो मनुष्य को अच्छा लगता है, सुख प्राप्त करने का संतोष वह अनुभव करता है। फिर ये सारे सुख अल्प प्रयास से प्राप्त होने वाले होते हैं, भले ही वे अल्पजीवी हों। उनकी अनुभूति तुरंत मिल जाती है। अन्य शब्दों में कहा जाये तो इन सुखों की प्राप्ति के लिये की जाने वाली सारी दौड़धूप का फल तुरंत मिल जाता है।

मन, बुद्धि, आत्मा की भूख भी वस्तुतः नैसर्गिक होती है, किन्तु उसका बोध सबको उपर्युक्त भूखों के समान सहजता और उत्कटता से नहीं हुआ करता। उस बोध को अध्ययन और सत्संस्कार द्वारा जाग्रत करना पड़ता है। इसका अर्थ यह है कि ये सुख कुछ समय के अभ्यास और तपस्या के बाद ही प्राप्त होते हैं। फिर भी मानव जीवन का समग्र दृष्टि से विचार करने पर आहार-निद्रा-रति आदि की क्षुधा-पूर्ति से प्राप्त होने वाले सुखों का इस दूसरी कोटि के सुखों के साथ विचार करना

अत्यंत आवश्यक है। पहली श्रेणी के सुखों से मनुष्य को शरीर-धारणा, शरीर-स्वास्थ्य, तात्कालिक सुख-संतोष आदि का लाभ होता है, तो दूसरी श्रेणी के सुखों की साधना से उसका पशुता से मानवता की ओर, व्यष्टि से समष्टि की ओर, आगे चलकर परमेष्ठी अर्थात् परमात्मा की दिशा में विकास होता जाता है। मनुष्य के शरीर की धारणा और विकास जितना आवश्यक है, उतना ही उसके मन, बुद्धि और आत्मा का विकास होना भी उसके सर्वांगीण संतुलित विकास के लिये परमावश्यक होता है। अथाह पानी में नौका के प्रवेश करते समय नाव के सभी यात्री उसके एक ही कोने में विशिष्ट स्थान प्राप्त करने के लिये धकापेल करें तो नाव उलटकर उस नाव की तथा उसमें बैठे यात्रियों की जो अवस्था होगी, वही अवस्था मन, बुद्धि, आत्मा के सुखों के कपाट बंद रखकर केवल भौतिक इच्छा-वासनाओं के पीछे भागने वाले मानव जीवन की भी होगी। ऐसा व्यक्ति समाज की हर बात का, घटना का, साधन-सामग्री का विचार केवल अपने लिये अधिकाधिक भौतिक सुखोपभोग प्राप्त करने की दिशा में ही करेगा। फिर सत्य-असत्य, उचित-अनुचित आदि का विवेक धीरे-धीरे छूट जायेगा और 'विवेक भ्रष्टानां भवति विनिपात: शतमुखै:' - ऐसी उस व्यक्ति की अवस्था हो जायेगी। ऐसा व्यक्ति समाज के लिये भी उपद्रवकारी होता है। आज हमारे चारों ओर प्राय: यही दृश्य दिखाई देता है। मनुष्य की सारी दौड़-धूप केवल भौतिक सुखों के लिए चल रही है। शरीर के साथ केवल मन और बुद्धि ही नहीं अपितु आत्मा भी है, इसका उसे विस्मरण सा हुआ दिखाई देता है।

एकात्म मानव दर्शन में सुख की कामना ऐसी एकांगी नहीं है। वह व्यक्ति का विचार समग्र दृष्टि से करता है और इतना ही नहीं अपितु मनुष्य के अन्दर जो सत्प्रवृत्तियाँ होती हैं उनका उन्नयन करता है, विकास करता है। इस दर्शन में सुख वर्जित नहीं है। यदि कुछ वर्जित है तो वह है व्यक्ति और समाज के पतन का कारण बनने वाली सुखलोलुपता। भोग से मिलने वाले सुख का यहाँ सामान्यत: विरोध नहीं है, किन्तु संयम और त्याग में उच्च कोटि का असीम सुख होता है इसका बोध कराने वाला यह दर्शन है। अधिकार की आकाँक्षा को यहाँ

त्याज्य नहीं माना गया है, किन्तु अधिकार को कर्तव्य के ढाँचे में जड़ने का आग्रह अवश्य है। 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्' को सत्य मानकर शरीर के संवर्धन और बल की उपासना का महत्त्व इस दर्शन को मान्य है, किन्तु साथ ही इस उक्ति में 'धर्मसाधनम्' का जो लक्ष्य रखा गया है उसका विस्मरण कभी न हो, इस पर इस दर्शन में बल दिया गया है । इसीलिये प्रसंग आते ही समष्टि के हित में अपनी अस्थियों को हँसते हुए समर्पित करने वाले दधीचि ऋषि या 'यदि सात भाई होते हम, तुम्हारी ही वेदी पर चढ़ा देता मैं सबको' - इस काव्य-पंक्ति में व्यक्त होने वाली स्वातंत्र्यवीर सावरकर की समर्पण-भावना ही इस दर्शन का आदर्श है।

संक्षेप में कहा जाये तो शरीर के साथ ही मन-बुद्धि-आत्मा का, उपभोग के साथ-साथ संयम और समर्पण का, अधिकारों के साथ-साथ कर्तव्य का, व्यक्ति के साथ-साथ समष्टि-सृष्टि-परमेष्ठी का निरंतर भान रखकर चलने वाला एकात्म सुख इस दर्शन को अभिप्रेत है। जो भी प्रयास करना है, जो पुरुषार्थ करना है, वे सब इस सर्वांगीण सुख को प्राप्त करने की दिशा में हों, क्योंकि उसी में से एकात्म मानव दर्शन का लक्ष्य अर्थात् व्यक्ति और समष्टि की समन्वित भौतिक और आध्यात्मिक उन्नति साकार होने वाली है।

शरीर के सुख के साथ-साथ बुद्धि और आत्मा के सुखों का भी विचार करना मानव की उत्क्रांति की ओर अग्रसर होने के साथ पूर्णतः सुसंगत है। श्री गुरुजी का इस विषय में एक विवेचन यहाँ उल्लेखनीय है। उन्होंने कहा था- "मानव की उत्क्रांति के मार्ग में जड़वाद एकदम ही प्रारंभ की अवस्था है। उत्क्रांति का प्रवास स्थूल से सूक्ष्म की ओर होता हैं। प्राथमिक अवस्था में मनुष्य को केवल स्थूल भौतिक वस्तुओं का ही आकर्षण होता है। उसका सारा समय भौतिक सुखों के पीछे भागने में, शारीरिक सुखों की तृप्ति करने में ही खर्च होता है। इस मार्ग पर चलते-चलते जब वह थोड़े ऊँचे स्तर पर आता है, तब उसमें अपनी भावनात्मक आशाओं, आकाँक्षाओं को पूर्ण कर मानसिक सुख प्राप्त करने की लालसा बढ़ती है। सच कहा जाये तो यहीं से उसके

सांस्कृतिक विकास का मार्गक्रमण प्रारंभ होता है। उसकी सौन्दर्य-दृष्टि को गति मिलती है। वह नाना प्रकार की कलाकृतियों का निर्माण करता है। इसके बाद एक कदम और आगे बढ़कर वह उन कलाकृतियों में किसी अज्ञात सौन्दर्य की खोज करने का प्रयास करता है। इस अवस्था में वह बौद्धिक सुखों की अनुभूति करने लगता है। अथाह ज्ञान-सागर में गहरी पैठ लगाने में उसे आनंद आने लगता है। विज्ञान और तत्त्वज्ञान के क्षेत्र उसकी अन्वेषण-बुद्धि को चुनौती देते हैं, किन्तु इससे भी उसे संतोष प्राप्त नहीं होता। और आगे बढ़ने की लगन उसे उद्विग्न करती रहती है। अपनी बुद्धि के परे ऊँची उड़ान लेकर वह अपने अस्तित्व के रहस्य को सुलझाने का प्रयास करता है। अब वह आत्मतत्त्व के क्षेत्र में प्रवेश करता है और अन्त में उसे सर्वव्यापी एवं सूक्ष्म सच्चिदानंद परमात्मा अर्थात् परमेश्वर की प्राप्ति होती है।"

मानव की उत्क्रांति का प्रवास होता है - 'जड़ से चेतन की ओर।'

(विचार धन, द्वितीय संस्करण -पृष्ठ 449)



4

व्यक्ति-विचार : चतुर्विध पुरुषार्थ

अब यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि मनुष्य को यह चतुर्विध सुख कैसे प्राप्त होगा? मोटे तौर पर कहा जा सकता है कि प्रयत्न से प्राप्त होने वाले निर्वाह-साधन, मन की शांति, ज्ञान तथा विवेक, और समुचित जीवन-लक्ष्य, ये चार बातें शरीर-मन-बुद्धि और आत्मा के सुख के लिये आवश्यक हैं। मनुष्य की मानो ये चार क्षुधाएँ हैं। इनको तृप्त कर मनुष्य का सर्वांगीण एवं संतुलित विकास हो, इस हेतु भारतीय संस्कृति ने व्यक्ति के सामने कर्तव्य के रूप में चार पुरुषार्थों का आदर्श रखा है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, वे चार पुरुषार्थ हैं।

काम

शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा की क्षुधाएँ तृप्त होने पर मनुष्य को सुख अनुभव होता है। इन्हीं क्षुधाओं को हमारे यहाँ काम कहा गया है। ये मनुष्य के अन्दर निसर्गतः होती हैं। किन्तु शरीर, मन, बुद्धि स्वस्थ एवं कार्यक्षम न हों, किसी कारणवश ये क्षुधाएँ उसके अन्दर मंद हों, या उनके अन्दर विकृति आयी हो, तो उनसे मिलने वाला सुख मनुष्य पूर्णरूपेण भोग नहीं सकता। दुर्बल या रोगपीड़ित शरीर वाला, किसी भी कार्य के लिये आवश्यक मन का उत्साह न रखने वाला, और मंद या विकृत बुद्धि वाला मनुष्य आहार, निद्रा, रति आदि प्राथमिक स्तर के भौतिक सुखों का स्वाद भी ठीक से नहीं ले सकता। फिर श्रेष्ठ

आध्यात्मिक सुख-सम्पदा की तो बात ही दूर है। सुदृढ़ एवं रोगरहित शरीर, अनुकूल बातों का लाभ उठकार प्रतिकूलताओं पर विजय प्राप्त करते हुए आपने जीवन-लक्ष्य को प्राप्त करने का साहस रखने वाला मन तथा उपलब्ध साधनों का एवं उपभोग्य वस्तुओं का उचित उपयोग करने की क्षमता रखने वाली विवेक-बुद्धि हो, तभी मनुष्य इन विविध सुखों को अनुभव करता हुआ आत्मोन्नति कर सकता है। इस प्रकार की पौरुष-सम्पन्नता, कामना, साधना और उनसे प्राप्त होने वाले सुखों की प्राप्ति का जो पुरुषार्थ है उसे हमारे यहाँ काम पुरुषार्थ कहा गया है।

तथापि कई लोगों में इस काम पुरुषार्थ के बारे में एकांगी, संकुचित और कभी-कभी विकृत कल्पनाएँ भी पायी जाती हैं। सामान्यत: काम का अर्थ स्त्री-पुरुष समागम की इच्छा और उसकी तृप्ति से शरीर और मन को प्राप्त होने वाली संग-संवेदना ही लिया जाता है। काम पुरुषार्थ में स्त्री-पुरुष समागम का अन्तर्भाव अवश्य है, किन्तु उस पुरुषार्थ का आशय केवल रति-सुख की अपेक्षा निश्चय ही बहुत व्यापक और उदात्त है। सुप्रसिद्ध सुभाषित 'न जातु कामः काम्यानामुपभोगेन शाम्यति' में वर्णित काम निश्चय ही स्त्री7पुरुष के शारीरिक सुख की वासना तक ही सीमित नहीं है। उसमें सभी इंद्रियों के विषयों का समावेश है। 'न त्वहं कामये राज्यं, न स्वर्ग नापुनर्भवम्। कामये दुख:तप्तानां प्राणिनामार्तिनाशम्।।' या 'धर्माऽविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भारतर्षभ' (गीता 11-7) जैसे वचनों से भी काम पुरुषार्थ के आशय की ऊँचाई और घनता ध्यान में आ सकती है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि मनुष्य के मन में उत्पन्न होने वाली विविध कामनाओं, इच्छाओं, आकाँक्षाओं का अन्तर्भाव काम पुरुषार्थ में होता है।

मनुष्य को कर्मरत करने वाला यह पुरुषार्थ है। मनु ने ठीक ही कहा है- "अकामा वा क्रिया क्वचित्"। यही क्यों, इस सम्पूर्ण विश्व की उत्पत्ति ही 'एकोऽहम् बहुस्याम्' की आदिकामना से हुई है। काम पुरुषार्थ के बिना केवल धर्म और अर्थ पुरुषार्थों की ही नहीं, अपितु मोक्ष पुरुषार्थ की भी आराधना ठीक से नहीं की जा सकती। मोक्ष की अवस्था प्राप्त होने के बाद मनुष्य के लिए प्राप्तव्य या काम्य कुछ भी नहीं

बचता। यह तो ठीक ही है कि मोक्ष चिरंतन एवं श्रेष्ठ सुख प्राप्त करा देने वाला पुरुषार्थ है। उसी में मानव के जीवन की सफलता है। किन्तु अन्य सभी सुखों को लात मारकर इसी पुरुषार्थ की आराधना करने की उत्कट कामना अन्तःकरण में हो, तभी मनुष्य मोक्ष-मार्ग की ओर अग्रसर होगा और मोक्ष उसके हाथ लगेगा।

काम मन का विशेष गुण है और मन तो चंचल है, संकल्प विकल्पात्मक है। वह नाना कामना-तरंगों पर सवार होकर यत्र-तत्र-सर्वत्र संचार करता रहता है। मन की तुलना हमारे यहाँ चंचल पक्षी से की गयी है। अनेक बार वह न जाने कहाँ-कहाँ भटकता रहता है। ऐसी-ऐसी बातों को करने के लिये, जो वास्तव में नहीं करनी चाहिए, इन्द्रियों को प्रवृत्त करता रहता है और स्वयं विषय-वासना के पीछे घिसटता चला जाता है। इस प्रकार भटका हुआ मन यदि श्रेष्ठतम जीवन-लक्ष्य की ओर एकाग्र हो जाये, तभी मनुष्य उस लक्ष्य की ओर निष्ठापूर्वक आगे बढ़ सकेगा और उस लक्ष्य को प्राप्त कर सकेगा। इन्द्रियों का दास बना मन अंत में दुख और अधोगति का कारण बनता है। इसके विपरीत इन्द्रियों को वश में रखने वाला ईश्वराभिमुख मन सुख और उन्नति का साधन बनता है। मन को सदैव अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर रखने का काम बुद्धि करती है। बुद्धि का यह कार्य कठोपनिषद् के पहले अध्याय (वल्ली 3, श्लोक 3) में स्पष्ट रूप से वर्णित है- "आत्मानं रथिनं विद्धि, शरीरं रथमेव तु। बुद्धिं तु सारथिं विद्धि, मनः प्रग्रहमेवच।" इसलिये बुद्धि इष्ट -अनिष्ट का विवेक करने में सक्षम होनी चाहिए, व्यवसायात्मिका होनी चाहिए। बुद्धि को विवेक-पथ पर बराबर अग्रसर रखने का काम धर्म का है। इसीलिये हमारे यहाँ धर्म को आधारभूत पुरुषार्थ माना गया है।

अर्थ

काम पुरुषार्थ की प्राप्ति के लिये आवश्यक विविध साधन जुटाना अर्थ पुरुषार्थ है। शरीर के केवल सुख के लिये ही नहीं, अपितु उसकी धारणा के लिये भी अन्य वस्तुओं की आवश्यकता होती है और इनकी प्राप्ति अर्थ पर निर्भर रहती है। इसका अर्थ यह हुआ कि

अपरिहार्य भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये तो अर्थ पुरुषार्थ की साधना जीवन में आवश्यक हो जाती है।

इस पुरुषार्थ में अर्थ का आशय ठीक से ध्यान में लेना चाहिए। सुख-प्राप्ति के लिये जिन जिन बातों की आवश्यकता होती है उन सभी का समावेश इस पुरुषार्थ में हो, यह आवश्यक नहीं है। इनमें से जिनको प्राप्त करने के लिये कुछ न कुछ उद्योग या उद्यम करना पड़ता है, उन्हीं को अर्थ माना गया है। उदाहरण के लिये हवा, पानी, सूर्य-प्रकाश आदि तत्त्व सुखी जीवन के लिये अन्नवस्त्र की अपेक्षा भी अधिक महत्त्वंपूर्ण हैं। परन्तु ये सब वस्तुएँ प्रकृति ने ही हमें उपलब्ध करा दी हैं। उनको प्राप्त करने के लिये मनुष्य को कोई उद्योग या परिश्रम नहीं करना पड़ता। अत: अर्थ पुरुषार्थ में इनका समावेश नहीं होता। किन्तु अन्न, वस्त्र, घर आदि वस्तुओं को प्राप्त करने के लिये परिश्रम करना पड़ता है, इसीलिये इनका अर्थ में समावेश होता है। इस दृष्टि से सोचा जाये तो शरीर, भूमि, धन और सुख की कामनायें चार बातें अर्थ पुरुषार्थ के साथ जुड़ी हुई हैं। शरीर, भूमि और धन अर्थ-निर्मिति के साधन हैं और सुखोपभोग की इच्छा अर्थ-निर्मिति की प्रेरणा।

अर्थ के भी दो भाग हैं : मुख्य अर्थ और गौण अर्थ। जो वस्तु जीवन का आधार होती है, अथवा जीवनावश्यक वस्तु का निर्माण करती है उसे मुख्य अर्थ या धन कहा गया है। उदाहरण के लिये भूमि, पशुधन, वस्त्र इत्यादि। इन जीवनावश्यक वस्तुओं का लेनदेन किसी अन्य वस्तु के माध्यम से होता हो तो उस विनिमय के साधन को गौण अर्थ या द्रव्य कहा गया है। इस दृष्टि से पैसा गौण अर्थ है। किसान खेत में परिश्रम कर मुख्य अर्थ का निर्माण करता है और अपनी जीविका चलाता है तो नौकरी करने वाला वेतनभोगी नौकर या श्रमिक वेतन के रूप में मिलने वाले गौण अर्थ की सहायता से जीवनावश्यक वस्तुएँ अर्थात् मुख्य अर्थ कमाता है। स्पष्ट है कि किसी भी प्रकार से देखें, सुख के लिये अर्थ की आवश्यकता होती ही है। जिसके पास जोतने के लिये भूमि न हो, ऐसे किसान का और नौकरी या अन्य व्यवसाय जिसके पास नहीं, ऐसे बेकार मनुष्य का अर्थ-प्राप्ति का स्रोत ही बंद रहता है। ऐसे अकिंचन

व्यक्ति के लिये अपना पेट भरना भी असंभव हो जाता है। तात्पर्य यह कि सुख के लिये अर्थ की, और अर्थ के लिये जीविका की व्यवस्था का होना अपरिहार्य है।

सुख के संदर्भ में आजीविका का विचार करते समय और भी कुछ बातों को ध्यान में लेना होगा। उदाहरणार्थ, आजीविका का व्यवसाय यथा संभव व्यक्ति की रुचि का एवं सरलता से साध्य होने वाला होना चाहिए। आजीविका के साधनों में मनुष्य को रुचि न हो, तो उसके तन और मन में अन्तर्विरोध पैदा हो जायेगा। उसका मन उस काम में पूरी तरह से रमेगा नहीं, परिणामतः न तो उसका काम ठीक से हो पायेगा, न ही उस काम से उसे निर्माण एवं कर्तव्यपूर्ति का पूरा आनंद मिल पायेगा जो मिलना नितांत आवश्यक होता है। दूसरे शब्दों में, ऐसी आजीविका उस व्यक्ति को सर्वांगीण एवं परिपूर्ण सुख नहीं दे सकेगी। उसके व्यक्तित्व का विकास करने में वह सहायक भी नहीं बन पायेगी। प्रति माह वेतन प्राप्त होने के कारण उसकी रोटी की समस्या तो हल हो जायेगी, किन्तु मन अतृप्त एवं उत्साहहीन ही रहेगा। इसी बात को स्पष्ट करते हुए पं. दीनदयाल जी ने कहा था, "कमाई करने के साधनों का स्वरूप ऐसा निश्चित करना चाहिए कि व्यक्ति के काम और प्रत्यक्ष जीवन के बीच कोई दीवार खड़ी न हो। यह स्वरूप निश्चित करते समय हमें अपने सम्मुख हृदय, बुद्धि, तथा शरीर तीनों की क्षुधाएँ रखने वाला हाड़मांस का मनुष्य होना चाहिए, अन्यथा काम के आठ घंटों के मानवी सद्गुणों के लिए हानिकारक होने वाले दुष्प्रभाव को दूर करने में ही उसके शेष सोलह घंटे बीत जाया करेंगे और वह फिर से आठ घंटों के चक्कर में फँस जायेगा।" (राष्ट्र-चिन्तन - 89)

फिर भी व्यवसाय मात्र आजीविका उपलब्ध कराने वाला साधन नहीं होता। मनुष्य अपने काम के द्वारा अपने आप की अभिव्यक्ति भी करता है। वह उसके आत्मा एवं समूचे जीव की अभिव्यक्ति होती है। चित्रकार से कोई कहे कि चित्र मत उतारो, या कवि से कहे कि कविता मत बनाओ तो उनके जीवन में कोई रस ही नहीं रहेगा। किसान खेती के साथ अपने जीवन को भी विकसित करता है। खेती-बाड़ी का हर

छोटा-मोटा काम उसका जीवन ही तो होता है। वह उसके जीवन का अभिन्न अंग होता है। बुनकर के हाथों का कौशल, सितारवादक की अँगुलियों की सितार पर होने वाली फिरत, नर्तक के पदविन्यास की लयबद्धता से उनका जीवन ही प्रकट होता रहता है।

यह भी आवश्यक है कि ऐसी आजीविका भी किसी की कृपा के कारण नहीं, अपितु कर्तव्याभिमुख अधिकार के रूप में प्राप्त हुई हो। चाटुकारिता और चापलूसी कर प्राप्त होने वाली लाचारी की रोटी और भीख में मिली रोटी, दोनों एक समान हैं। सामने डाले टुकड़ों की जुगाली कर पशु-पक्षी शायद संतुष्ट होते होंगे, किन्तु मनुष्य को उनसे संतोष कदापि प्राप्त नहीं होगा। आर्थिक स्वतंत्रता से वंचित मनुष्य मन से दबा हुआ बन जाता है और इस प्रकार मन से दबे मनुष्य की बुद्धि में भी विवशता छा जाती है। परमात्मा ने मनुष्य को पेट दिया है, किन्तु साथ ही हाथ-पाँव भी दिये हैं। इसका उद्देश्य यही है कि पेट पालने के लिये आवश्यक रोटी वह अपने परिश्रम से प्राप्त करता हुआ छाती तान कर चले। वास्तव में इस ढंग से किये हुए अर्थार्जन को ही पुरुषार्थ की संज्ञा प्राप्त होती है।

आजीविका सहजसाध्य होने का अर्थ यह है कि बित्ता भर पेट भरने के लिये मनुष्य पर यह नौबत कभी न आये कि उसे पशु की भाँति दस-दस, बारह-बारह घंटे पिसना पड़े। कारण, ऐसी आजीविका से प्राप्त होने वाला 'अर्थ' उसके तन-मन को भायेगा नहीं। मनुष्य का पेट अर्थात् शरीर तो होता ही है, किन्तु साथ ही उसके मन, बुद्धि और आत्मा भी होते हैं। सुख शरीर का होता है, तो मन, आत्मा और बुद्धि का भी होता है। सुख के इस प्रांगण में उसे प्रवेश करना होता है, क्योंकि तभी वह पशुत्व से भिन्न एवं उच्चतर श्रेणी के अपने मनुष्यत्व को चरितार्थ कर सकता है। आजीविका सहजसाध्य हो, तो उसे दिन रहते कुछ खाली समय मिल सकता है जिसका सदुपयोग करता हुआ वह इस दिशा में चिन्तन कर सकता है और आगे बढ़ सकता है। 'दिन बीता, पेट रीता' वाली अवस्था हो तो ऐसे खींचातानी वाले जीवन में उसे आहार, निद्रा आदि प्राथमिक सुखों का भोग भी अबाधित ढंग से नहीं

मिल पायेगा।

अर्थ का अभाव तथा प्रभाव

अर्थ का ऐसा अभाव व्यक्ति धर्म और समष्टिधर्म दोनों के लिये हानिकर होता है। सदैव पैसे की किल्लत में रहने वाला मनुष्य न तो अपने तन, मन और बुद्धि की समुचित धारणा कर पायेगा, न ही समष्टि के घटक के नाते अपने कर्तव्यों को ठीक से निभा सकेगा। ऐसा व्यक्ति केवल जीवनधर्म का यथोचित पालन नहीं कर सकता, अपितु अधर्म करने के लिये भी प्रवृत्त हो जाता है। हमारे यहाँ यों ही नहीं कहा गया है 'बुभुक्षित: किं न करोति पापम्'। मूलत: पापभीरु प्रकृति के लोग भी घूसखेरी, चोरी, डाकाजनी, ज़ुआ, जैसे अपराधों की ओर मुड़ते पाये जाते हैं या अच्छे संस्कारों वाले परिवार में पली बहिनें भी अनीति के मार्ग पर चलने लगती हैं। इसके कई कारण हो सकते हैं, किन्तु एक प्रमुख कारण अर्थ का अभाव भी होता ही है।

तथापि यह नहीं कि केवल अर्थ का अभाव ही धर्म के लिए हानिकर होता है। 'अर्थ का प्रभाव' भी धर्म के लिए उतना ही हानिकारक होता है। यहाँ अर्थ के प्रभाव का आशय केवल अर्थ की विपुलता या प्रचुरता मात्र नहीं है। सम्पत्ति के प्रति अत्यधिक आसक्ति हो जाना, अर्थ साध्य नहीं, एक साधन ही है, इसका विस्मरण होना और अधिकतम धनार्जन ही जीवन का लक्ष्य बन जाना, अर्थ के प्रभाव का लक्षण है। सुख भोगने के नये-नये साधनों को प्राप्त करने के लिए अर्थ के पीछे होने वाली भागदौड़ तो समझ में आ सकती है, किन्तु साध्य-साधन विवेक छोड़कर 'कौड़ी कौड़ी माया जोड़ो, जोड़ो लाख करोड़' में ही सुख प्रतीत होना अर्थ का प्रभाव ही है। ग्रीक राजा मिडास की कहानी प्रख्यात ही है। इस राजा को सोने का इतना भारी लालच हो गया था कि उसने भगवान से यह वर माँग लिया कि वह जिस वस्तु को भी हाथ लगा दे वह सोने की हो जाये। यह नहीं कि उसके पास सुख भोगने के साधनों की कोई कमी थी जो उसने ऐसा वर माँग लिया हो। वह तो उसे सोने का केवल विकट लालच हो गया था, इसीलिये उसने ऐसा किया और अन्त में उसके स्पर्श मात्र से जब उसकी लाड़ली

पुत्री ही सोने की निर्जीव मूर्ति बन गयी, तब जाकर वह पछताया। 'मनुष्य को कितनी भूमि की आवश्यकता होती है?' यह टाल्स्टाय की कहानी भी अर्थ का प्रभाव बताने वाली ही है। इस कहानी में एक मनुष्य को उतनी सारी भूमि मुफ्त मिलने वाली थी, जितनी वह सूर्योदय से चलकर सूर्यास्त तक वापस उसी स्थान पर पहुँचने में अपने पैरों से नाप ले। अधिकतम भूमि प्राप्त करने के लालच में वह इतना दूर दौड़ा चला गया कि सूर्यास्त तक वापस अपने स्थान पर पहुँच ही न पाया। दौड़ते-दौड़ते मार्ग में ही धूप और थकान के कारण उसके प्राणपखेरू उड़ गये। अन्त में उसके दफनाने के लिये खोदी गयी कब्र की केवल साढ़े तीन हाथ भूमि ही उसके भाग में आयी। उतनी ही उसकी आवश्यकता थी।

किन्तु सामान्य मानव के मन पर अर्थ का अत्यधिक प्रभाव इस प्रकार की कोरी आसक्ति के कारण नहीं, अपितु अर्थ के द्वारा प्राप्त हो सकने वाले भौतिक सुखों के लोभ के कारण ही रहता है। प्रारंभ में मनुष्य जीवन की नितांत आवश्यकताएँ पूरी करने और बाद में न्यूनतम सुख भोगने के साधन प्राप्त करने के लिये अधिक धन अर्जित करने में जुट जाता है। किन्तु धीरे-धीरे यह चित्र बदलने लगता है, उसके मनमस्तिष्क में भोग-विलास के अधिकाधिक प्रकार और विषय आने लगते हैं और उन्हें पाने के लिए वह अधिकाधिक धन संचित करने में लग जाता है। सुख की तृष्णा में पड़े व्यक्ति इस बात का विधिनिषेध भी खो बैठते हैं कि अर्थ-प्राप्ति के लिये कौन सा मार्ग भला है और कौन सा बुरा। इन्द्रियजन्य सुखों की प्यास भोग-विलास से शांत होने के बजाय और भी तेज हो जाती है। इतनी भागदौड़ करने के बाद भी ऐसे 'कामकामी' को अर्थ का अभाव ही घेरे रहता है। गीता के वचनानुसार उसे शांति तो कभी मिलती ही नहीं और अशांत व्यक्ति को सुख की प्राप्ति भी नहीं होती।

अर्थ के इस प्रभाव के बारे में दीनदयाल जी ने कहा है, "सम्पत्ति और उसके द्वारा प्राप्त होने वाले भोगविलासों में आसक्ति पैदा हो जाये, तब कहना चाहिए कि सम्पत्ति का प्रभाव पैदा हो गया है। ऐसा

व्यक्ति जिस पर केवल पैसे की धुन सवार हो गयी हो, देश, धर्म और जीवन के सुख आदि सब बातों को भुला बैठता है। उसी प्रकार विषयासक्त मनुष्य पौरुषहीन होकर अपने एवं दूसरों के विनाश का कारण बन जाता है। विषयतृष्णा की कोई सीमा न होने के कारण विषयासक्त व्यक्ति को सदैव अर्थ का अभाव ही घेरे रहता है। पौरुषहीनता के कारण अर्थोत्पादन की उसकी क्षमता भी उत्तरोत्तर कम होती जाती है।" (भारतीय अर्थनीति)

अर्थ के प्रभाव के इन दोनों प्रकारों से हमें दूर रहना चाहिए। धर्म के प्रभाव से यह संभव हो सकेगा।

धर्म

अब तक हमने विचार किया है कि काम के प्रभाव से उत्पन्न होने वाले दुष्परिणामों से मुक्त रहकर मनुष्य उस पुरुषार्थ का उपयोग अपने जीवनलक्ष्य की ओर अग्रसर होने के लिये कर सके, इस हेतु उसके मन और बुद्धि का धर्मानुगामी होना कितना आवश्यक है। काम और अर्थ दोनों पुरुषार्थों की आपस में बड़ी मित्रता होती है। सामान्यत: काम पुरुषार्थ घिसटता हुआ चला आता है। अत: अर्थ के प्रभाव से मुक्त रहने के लिये भी सुशिक्षा, सत्संस्कार, सदाचार की अर्थात् धर्म की शरण लेना अत्यावश्यक होता है। अर्थव्यवस्था की उचित संरचना अर्थ के प्रभाव से मुक्त रहने का एक उपयोगी उपाय तो अवश्य है, किन्तु क्योंकि यह निश्चित् करने का कि कौन सी व्यवस्था उचित होगी, कार्य भी मनुष्य के मन और बुद्धि का ही होता है, अन्तत: इस व्यवस्था का प्राण धर्म ही है। इस प्रकार जीवन में धर्म का स्थान अत्यंत महत्त्व का होने के कारण इस पुरुषार्थ का विचार अधिक समग्रता से करना चाहिए।

दुर्भाग्य से हमारे यहाँ धर्म-परिकल्पना के बारे में काफी गड़बड़ और भ्रांतियाँ हैं। धर्म शब्द बहुआयामी और पर्याप्त व्यापक आशय वाला है। पदार्थ का गुणविशेष, प्रकृति का आधारभूत नियम, जीवन के आधारभूत नीतिनियम एवं कर्तव्य आदि अनेक आशय धर्म शब्द द्वारा व्यक्त होते हैं। उदाहरणार्थ प्रवाहशीलता पानी का, उष्णता या दाहकता अग्नि का, तरलता वायु का, सुगंध और शीतलता चंदन का धर्म होता

है। यहाँ धर्म शब्द को प्राकृतिक गुण विशेष के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। पितृधर्म, मातृधर्म, आदि शब्दों में प्रयुक्त धर्म शब्द संबंधित व्यक्तियों के नीति-नियमों पर आधारित दायित्वों का परिचायक है, तो राजधर्म, समष्टिधर्म आदि शब्दों में प्रयुक्त धर्म शब्द प्रमुखता से कर्तव्यों का संकेत देता है।

व्युत्पत्तिशास्त्र के अनुसार धर्म शब्द धृ(धारण करना) धातु से बना है। धर्म शब्द की व्याख्याओं में एक है - "धारणात् धर्म इत्याहु: धर्मो धारयते प्रजा:"। अर्थात् धर्म का संबंध, संबंधित वस्तु या घटक की धारणा से है। जो धारण करता है उसे धर्म कहा गया है। धारणा में अस्तित्व, परिपालन एवं संवर्द्धन, तीनों बातों का अन्तर्भाव होता है। सृष्टि की धारणा करने वाला सृष्टि-धर्म, समष्टि की धारणा करने वाला समष्टिधर्म और व्यक्ति की धारणा करने वाला व्यक्तिधर्म होता है। इसी दृष्टि से विचार करने पर हम कह सकते हैं कि धर्म में ऐसे सभी आधारभूत सिद्धांतों, नियमों, भावनाओं तथा व्यवस्थाओं का समावेश होता है, जो इसलिये बनाये होते हैं कि व्यक्ति और समाज की भौतिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक उन्नति हो, उनका जीवनक्रम सुचारु ढंग से चलता रहे, उनमें सौमनस्य बना और बढ़ता भी रहे तथा सबको अपने जीवनलक्ष्यों का निरंतर भान रहकर उस दिशा में मार्गक्रमण करना संभव एवं सुलभ हो सके। इसी को पं. दीनदयाल जी ने धर्म की प्रभुसत्ता कहा था।

धर्म का आशय इतना व्यापक है, किन्तु कई बार बिल्कुल गौण बात को ही धर्म मान लिया जाता है। सामान्यत: धर्म के बारे में ऐसी ही कल्पना पायी जाती है कि धर्म का संबंध पूजा-प्रार्थना के स्थानों से है। उदाहरण के लिये माना जाता है कि मंदिर में जाने वालों का धर्म, मस्जिदों में जाने वालों के धर्म से भिन्न है और गिरजाघर में जाने वालों का तो सबसे निराला ही है। वस्तुत: धर्म मंदिर या मस्जिद के साथ बंधा नहीं है। ईश्वर की उपासना व्यक्ति धर्म का एक अंग तो है, और उस दृष्टि से मंदिर, मस्जिद या गिरजाघर के साथ धर्म का संबंध है भी, किन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि धर्म मंदिर, मस्जिद या गिरजाघर

की चारदीवारी में ही बंद रहने वाली वस्तु है। मंदिर, मस्जिद, गिरजाघर लोगों को धार्मिक शिक्षा एवं संस्कार देने के माध्यम हो सकते हैं, किन्तु जिस प्रकार प्रतिदिन पाठशाला जाने वाला छात्र भी अज्ञानी रह सकता है उसी प्रकार प्रतिदिन मस्जिद या गिरजाघर जाने वाला व्यक्ति न केवल धर्मविहीन, अपितु धर्मविरोधी या धर्म शत्रु भी हो सकता है। मंदिर, मस्जिद या गिरजाघर मुख्यत: उपासना-प्रणाली या पंथ के साथ जुड़ी हुई वस्तुएँ हैं।

धर्म और पंथ

धर्म, पंथ से भिन्न और व्यापक कैसे है, इसे समझने के लिये पहले यह ध्यान में लेना होगा कि पंथ होता क्या है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि पंथ व्यक्ति को परमेष्ठी या परमात्मा के साथ जोड़ने वाला एक मार्ग है। श्री विश्वनाथ लिमये ने अपने 'मैं या हम' नामक ग्रंथ में इस विषय का विश्लेषण किया है। श्री लिमये लिखते हैं, "समूचा चराचर विश्व एक योजनाबद्ध रचना है। इस विश्व में सृजन और विनाश की क्रिया निरंतर चल रही है। किन्तु इस नित्य परिवर्तनशील ब्रह्माण्ड के साथ ही एक अपरिवर्तनीय चित्, तत्त्व भी विद्यमान है। इसे शास्त्रज्ञ लोग 'स्वयं विकासशील कारण' (सेल्फ एवाल्विंग कॉज) कहते हैं। उनके विचार में भी ब्रह्म सर्वथा निरपेक्ष सत्य है।"

अब मानव भी इस संरचना का अंश होने के कारण उसमें भी इस चित् तत्त्व के दोनों रूप (सापेक्ष सत्य और पूर्ण सत्य) विद्यमान होते हैं। इस सापेक्ष सत्य को पूर्ण सत्य के साथ जोड़ने वाला सेतु (पुल) मार्ग ही पन्थ कहलाता है। अंग्रेजी के Religion शब्द की व्युत्पत्ति भी यही दर्शाती है। Re अर्थात् पुन: और Ligo अर्थात् बाँधना, मिलाना, जोड़ना। किन्तु धर्म, सापेक्ष सत्य, निरपेक्ष पूर्ण सत्य, और इन दोनों को जोड़ने वाले विभिन्न मार्ग, सबको व्याप्त करने वाला होता है।

पंथ का निर्माण प्राय: किसी एक विशेष जन-समूह के परिवेश में होता है। अत: उस विशेष समूह, उसके विकास-स्तर, सामाजिक परिस्थितियों, उस विशिष्ट कालखंड की विशिष्ट समस्याओं आदि को ध्यान में रखकर निश्चित किये गये कुछ नीति-नियमों, विधिनिषेध,

ईश्वर की उपासना की पद्धति जैसी बातों पर पंथ का विशेष आग्रह होता है। इन सब आचार-विचारों का जो उद्‌गाता होता है उसे प्रेषित का या अवतारी पुरुष का और उसके उपदेशों एवं वचनों के संग्रह को उस पंथ के पवित्र ग्रंथ का स्थान प्राप्त होता है। उदाहरण के लिये ईसा मसीह और मोहम्मद पैगम्बर क्रमशः ईसाई और इस्लाम पंथ के प्रेरक हैं और बाईबल तथा कुरान उनके पवित्र ग्रंथ हैं।

किन्तु धर्म इस प्रकार देश, काल परिस्थितियों में बँधा नहीं होता। एक प्रेरक, एक ग्रंथ और कुछ विधिनिषेधात्मक आदेशों के सूत्र आदि (Commandments) की परिधि में पंथ तो आता है, किन्तु धर्म उसमें सीमित नहीं होता। हमारे यहाँ का उदाहरण लें तो सिख, बौद्ध, जैन, वैष्णव, ये सब 'रिलिजन' या पंथ अथवा सम्प्रदाय हैं। किन्तु सबका धर्म एक ही हिन्दू धर्म के नाम से पहचाना जाता है। धर्म की व्याख्या है 'यतोऽभ्युदयानि:श्रेयससिद्धिः स धर्मः' अर्थात धर्म को केवल निःश्रेयस (मोक्ष) ही नहीं, अपितु ऐहिक अभ्युदय भी अभिप्रेत है और अभ्युदय का अर्थ केवल उदय नहीं, अपितु 'अमितः उदय'-सर्वांगीण और सबकी उन्नति है। धर्म की इस व्याख्या में अभ्युदय को प्रथम स्थान दिया गया है, यह भी ध्यान में लेना होगा।

पंथ प्रमुखतः परमेश्वर की ओर जाने वाले मार्ग के साथ जुड़ा हुआ होता है। धर्म परमेश्वर की ओर से मुख नहीं फेरता, किन्तु उसमें व्यक्ति और समष्टि के दृष्ट और अदृष्ट जीवन की सम्यक् धारणा एवं विकास पर विशेष बल होता है। ईश्वर की ओर जाने वाले मार्ग की क्या कहें, ईश्वर के अस्तित्व को मानना भी धर्म में अनिवार्य नहीं माना गया है। आप ईश्वर के अस्तित्व को मानें या न मानें, किन्तु इहलौकिक जीवन को सुचारु रूप से चलाने के लिये धर्म के अधिकांश भाग को आपको स्वीकारना ही पड़ेगा। ईश्वर के अस्तित्व को मानने या न मानने के बारे में धर्म व्यक्ति को पूर्ण स्वतंत्रता देता है, किन्तु चोरी, हत्या, डाकाजनी, द्वेष, ईर्ष्या, अनीति का स्वातंत्र्य किसी को भी नहीं हो सकता। आप जप, अनुष्ठान, व्रत आदि करें या न करें, पाप और पुण्य की रूढ़ कल्पनाओं को मानें या न मानें, सामाजिक जीवन के नियमों

का, व्यवस्थाओं का, संकेतों और विधिनिषेधों का पालन सबको करना पड़ेगा।

धर्म-कल्पना की विकृति की मीमांसा

धर्म का वास्तविक रूप जब इतना व्यापक है तो उपर्युक्त संकुचित, विकृत आशय उस पर कहाँ से चिपक गया? दीनदयाल जी के विचार में अंग्रेजी भाषा का रिलीजन (Religion) शब्द ही बड़ी मात्रा में इस संभ्रम के लिये उत्तरदायी है। अंग्रेज जब यहाँ आये तो उन्होंने हमारा 'धर्म' शब्द सुना। इस शब्द का जो व्यापक धारणात्मक आशय है, उसे सही रूप में व्यक्त कर सकने वाला शब्द उनकी भाषा में नहीं है। इसलिये उन्होंने उसका अनुवाद रिलीजन (Religion) किया। दुर्भाग्य से हम लोग भी 'हिन्दू धर्म' का अनुवाद (Hindu Religion) करने लगे। इसका मुख्य कारण यह था कि भारतीय धर्म-कल्पना और सम्पूर्ण भारतीय जीवन के बारे में हम भी अज्ञानी हो चले थे। इसका परिणाम यह हुआ कि गहन आशय प्राप्त हिन्दू धर्म को हम लोगों ने एक पंथ-सम्प्रदाय (Religion) की पंक्ति में लाकर बैठा दिया।

हमारे यहाँ अंग्रेजों द्वारा प्रचलित की गयी शिक्षा-पद्धति में पाश्चात्य जीवन के इतिहास की ही अधिक जानकारी देने पर जो बल दिया गया, वह भी इस विकृति के लिये एक बड़ी सीमा तक उत्तरदायी है। इस शिक्षा-दीक्षा का परिणाम यह हुआ कि 'रिलीजन' शब्द के साथ जो-जो बुरी बातें यूरोपीय इतिहास में जुड़ गयी थीं, वे सब, हम भी यहाँ धर्म के सिर पर लादने लगे। यूरोप में और अन्यत्र भी 'रिलीजन' के नाम पर जो अनगिनत अन्याय व अत्याचार हुए, रक्तपात हुआ, वैसा ही हिन्दुस्थान में भी हुआ होगा, यह बात उन लोगों ने मान ली। परिणामस्वरूप हमारे यहाँ के तथाकथित प्रगतिशील लोगों ने भी धर्म को ऐसा हौआ मान लिया कि धर्म-युद्ध और 'रिलीजन' की लड़ाई में जो मूल अन्तर है उसे उन्होंने ध्यान में ही नहीं लिया। वे या तो 'हम निधर्मी हैं या धर्मनिरपेक्ष' कहकर धर्म के साथ संबंध-विच्छेद करने को उद्यत हुए या धर्म को केवल निजी जीवन की बात मानने और वैसा कहने भी लगे।

धर्म के बारे में इस विपरीत धारणा का कारण अंग्रेजी शासनकाल

में धर्म के बारे में तैयार की गयी विपरीत एवं विकृत प्रतिमा ही थी। उसके कई अन्य भी कारण हैं और वे भी पर्याप्त बलबत्तर हैं। आज तक हिन्दू समाज के ही अंग रहे कुछ लोग हिन्दू धर्म का परित्याग कर अन्य मतों में प्रवेश कर गये हैं, ऐसे समाचार बीच-बीच में आते रहते हैं, इसका कारण क्या है? धर्म और 'रिलीजन' की कल्पनाओं को मिला देना इसका कारण निश्चय ही नहीं है। उसका कारण तो वास्तव में यह है कि जिन बातों का धर्म से कोई लेना-देना नहीं है और यही नहीं, बल्कि जो निश्चय ही धर्म-विरोधी हैं ऐसी अनेक बातों का सदियों से धर्म के नाम पर प्रचार चलता रहा है। ये बातें धर्म को न केवल रूढ़ियों के साथ मिला देती हैं, बल्कि 'शास्त्रात् रूढ़िर्बलीयसी' के अनुसार ये धर्म पर सवार भी हो जाती हैं ।अस्पृश्यता का उदाहरण ले लीजिए। अस्पृश्यता का पालन करना धर्म में निहित है और धर्म का उल्लंघन महापाप है, ऐसी धारणा रखने वाले लोग आज भी स्थान-स्थान पर मिलेंगे। इनमें केवल अनपढ़ या अज्ञानी लोग ही नहीं, अपितु अपने को धर्माचार्य कहलवाने वाले महानुभाव भी आते हैं। धर्म के नाम पर प्रचलित अमानवीय रूढ़ि से पीड़ित लोग सहज ही कहते हैं कि "ऐसे धर्म से हमें बचाइए।" अनेक लोग अपने इस स्वाभाविक क्रोध को किसी अन्य मार्ग से भी व्यक्त करते हैं। यह सब देखकर जिनका हृदय कराह उठता है, उन्हें भी ऐसा लगने लगता है कि सामान्य मानवता की भी परवाह न करने वाले ऐसे धर्म से चार पग दूर ही रहना अच्छा।

परन्तु समस्या का समाधान ऐसे नहीं होता। उल्टे परिस्थिति अधिक विकट बन जाती है। धर्म को छोड़ने से काम नहीं चलेगा और धर्म ऐसे छूटेगा भी नहीं। कोई चाहे तो अपने आराध्य देवता या उपासना-पद्धति को छोड़ सकता है, बदल सकता है। वह अपने पंथ को भी छोड़ या बदल सकता है। यही नहीं, साक्षात परमेश्वर से भी मुख मोड़ सकता है, किन्तु धर्म के साथ उसका नाता तोड़े नहीं टूटेगा। इसका कारण यह है कि अन्ततोगत्वा व्यक्ति व समष्टि की धारणा धर्म के कारण ही होती है। हो सकता है कुछ लोगों ने धर्म को विकृत रूप दे दिया हो, धर्म का दुरुपयोग भी किया हो, किन्तु उतने मात्र से धर्म को

ही एक संकट मानकर उसका त्याग करना समस्या का समाधान नहीं है। धर्म का सत्य और वास्तविक स्वरूप क्या है, इसे समझकर सच्चे धर्म का आचरण करना व उसे सुप्रतिष्ठित करना ही समाधान है। जो बातें मूलतः अच्छी थीं उनमें किसी कारणवश कुछ अनिष्ट बातों और विकृतियाँ घुस गयी हों तो उन अनिष्ट बातों और विकृतियों को दूर कर मूल में जो अच्छी बातें थीं उनको ग्रहण करना, उनका संरक्षण व संवर्धन करना ही बुद्धिमानी है।

'धारणात् धर्म इत्याहु:' या 'यतोऽभ्युदयनि:श्रेयससिद्धि: स धर्म:', ये जो धर्मशब्द की व्याख्याएँ हैं उनमें वर्णित धर्म में व्यक्तिधर्म, समष्टिधर्म, सृष्टिधर्म आदि सबका समावेश है। किन्तु एकात्म मानव दर्शन के परिवेश में अब हम व्यक्तिधर्म और समष्टिधर्म का ही विशेष रूप से विचार करेंगे। इसका अर्थ यह नहीं कि ये दोनों धर्म परस्पर भिन्न हैं। वे एक ही व्यापक धर्म के दो पहलू हैं। मात्र विवेचन की सुलभता कि लिये व्यक्तिधर्म व समष्टिधर्म - इन दो रूपों में उसका विचार यहाँ किया गया है।

व्यक्तिधर्म उन सभी नियमों का समुच्चय है जो व्यक्ति के जीवन की धारणा करने वाले और जीवन-लक्ष्य की दिशा में उसका विकास करने में सहायता करने वाले होते हैं। यह धर्म मनुष्य्र की प्रकृति में ही होता है। मनुष्य को जन्मना प्राप्त होने वाले सभी अंग-उसका शरीर, पंच ज्ञानेन्द्रियाँ, मन आदि-प्रकृतिधर्म के अनुसार ही कार्य करते हैं। अन्य शब्दों में कहा जा सकता है कि सामान्यतः मनुष्य प्राणी प्रकृतिधर्म के अनुसार जीवन-धारणा के लिये अनुकूल ढंग से ही विचार व व्यवहार करता है और इसीलिये उसकी जीवनयात्रा चलती रहती है। किन्तु कई बार सुखलोलुपता के कारण, आलस्य के कारण या झूठे अहंकार के कारण मनुष्य इस प्रकृतिधर्म की उपेक्षा या उल्लंघन कर देता है। उदाहरण के लिए, मनुष्य की जीवनयात्रा शरीर पर निर्भर है, इसलिये शरीरधारणा के लिये अन्न ग्रहण करना व्यक्ति का शरीरधर्म है। इसके साथ ही यह विधिनिषेध भी अपने आप आ जाता है कि शारीरिक स्वास्थ्य के लिये हितकर और उपयुक्त मात्रा में ही अन्न ग्रहण करें तथा

जो शरीर के लिये हानिकारक हो उसे त्याज्य मानें। किन्तु कभी-कभी आवेश में आकर व्यक्ति कह बैठता है कि मैं आठ-आठ दिन बिना सोये रह सकता हूँ या अन्न-जल का एक कण भी सेवन किये बिना तीन दिन तक कार्य कर सकता हूँ, अथवा एक ही बार में 50 आलू के पराठे खा सकता हूँ, साठ प्याले चाय पी सकता हूँ आदि आदि। झूठे अहंकार से प्रकृतिधर्म पर ऐसा अत्याचार करें तो उसके कारण शरीर में विकृति अवश्य होगी। मनुष्य का शरीर प्रकृति-धर्म के अनुसार सुचारु रूप से चले, उसमें असमय विकृतियाँ उत्पन्न न हों, इसके लिये वैद्यक शास्त्र में आहार-विहार के संबंध में कुछ नियम या विधिनिषेध बताये गये हैं। ये विधिनिषेध शरीर धर्म के ही नियम हैं। चूँकि शरीर व्यक्तिधर्म और समष्टिधर्म का अत्यन्त महत्त्व का साधन है, इस शरीरधर्म का दृढ़ता के साथ पालन करना शारीरिक क्षमता को बनाये रखने के लिये नितान्त आवश्यक है।

किन्तु मनुष्य की धारणा केवल शरीर की धारणा नहीं होती। शरीर स्वास्थ्य के साथ ही मन व बुद्धि का स्वास्थ्य भी इस धारणा में अभिप्रेत है। 'धृतिः क्षमा दमाऽस्तैयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्' इस श्लोक में धर्म के जो 10 लक्षण बताये गये हैं वे शरीर के साथ ही मन-बुद्धि के स्वास्थ्य से भी जुड़े हुए हैं। जीवन के लिये शरीर-स्वास्थ्य के साथ ही मन-बुद्धि का स्वास्थ्य भी आवश्यक होता है। बुद्धिहीन मनुष्य के सामने संसार के अत्याधुनिक सुखों को भोगने की सामग्री लाकर रख भी दें तो उसका क्या? बंदर के हाथ में दिया दे दें तो वह जिस प्रकार उसे तोड़ देगा या 'बंदर के हाथ में मशाल' वाली कहावत को चरितार्थ करेगा, उसी प्रकार बुद्धिहीन मनुष्य उस सारी सामग्री को नष्ट कर देगा या समाज के लिए हानिकर होने वाले कुछ उपद्रव कर बैठेगा।

इसलिए यह आवश्यक है कि बुद्धि सही हो, ठीक हो, विकाररहित हो। इतना ही नहीं, अपितु वह सद्बुद्धि हो और सुसंस्कारित हो। जाग्रत या अर्द्ध जाग्रत मन में कुछ विकृतियाँ रह सकती हैं, उसी प्रकार बुद्धि में कुछ विकृतियाँ रह सकती हैं। यह बात अब पश्चिमी

लोगों ने भी मान ली है। बुद्धि ठीक न हो तो मनुष्य बुद्धि के सुख को अनुभव नहीं कर सकेगा। नित्य-अनित्य, श्रेय-अश्रेय, भोग्य-अभोग्य, ग्राह्य-अग्राह्य, कार्य-अकार्य का विवेक भी वह नहीं कर सकेगा।

शरीर-मन-बुद्धि का यह स्वास्थ्य और उनका सुख तभी मिल सकता है जबकि ये तीनों बातें धर्मानुगामी हों। युक्त और मित आहार-विहार, ध्यान-धारणा, योगासन जैसे कुछ व्यायाम, संयम, सत्संग, अच्छे ग्रन्थों का पठन-मनन, कुछ निष्काम समाज-सेवा के कार्य आदि बातें शरीर- मन-बुद्धि के इस स्वास्थ्य को प्राप्त करने में पर्याप्त सहायता देती हैं।

इसके साथ ही यह भी आवश्यक है कि व्यक्ति के समक्ष कोई श्रेष्ठ, व्यापक जीवन-लक्ष्य हो। यह जीवन-लक्ष्य भी ऐसा हो जिसके कारण सम्पूर्ण जीवन को अर्थात् शरीर-मन-बुद्धि को योग्य दिशा मिले। इन्द्रियजन्य सुख का लालच उत्तरोत्तर कम होता जाये। मन व बुद्धि की विकृतियाँ हट जायें। मन-बुद्धि-आत्मा के उच्च कोटि के सुखों को अधिकाधिक अनुभव करने से ही सम्पूर्ण जीवन सार्थक होता है। धर्म में इन दस बातों का समावेश है। किम्बहुना धर्म के अधिष्ठान के बिना मानव जीवन की सार्थकता असंभव है।

मोक्ष

यहाँ तक हमने व्यक्ति का विचार करते समय काम, अर्थ और धर्म, इन तीन पुरुषार्थों का विवेचन किया। इसमें एक स्थान पर यह उल्लेख भी आया है कि मनुष्य का जीवन यदि सभी अर्थों में कृतार्थ होना हो तो उसके लिये उसके समक्ष श्रेष्ठतम कोई लक्ष्य अवश्य होना चाहिए। हमारी संस्कृति में मोक्ष ही मानव जीवन का सर्वश्रेष्ठ लक्ष्य है। पुरुषार्थों की मालिका में स्वाभाविक रूप से मोक्ष को परम पुरुषार्थ माना गया है।

चतुर्विध पुरुषार्थों में धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थों का आकलन व तदनुसार आचरण अपेक्षाकृत सुगम है। मोक्ष पुरुषार्थ की बात वैसी नहीं। पहले तीनों पुरुषार्थों का संबंध प्रत्यक्ष में इसी जीवन के साथ होता है। मोक्ष पुरुषार्थ की भी साधना जीवन भर करनी होती है, किन्तु मृत्यु

के बाद भी वह जीवात्मा का साथ देता है - इस अर्थ में कि अपने चिदानंद स्वरूप का अनुभव करते हुए जीवात्मा परमात्मा स्वरूप में विलीन हो जाता है। देह की खोल यहीं गल जाने के बाद चैतन्य में विलीन हो जाता है। घट के फूट जाने के बाद घटाकाश व्यापक आकाश के साथ एकरूप हो जाता है। इस प्रकार जन्म-मरण का फेरा नि:शेष हो जाता है और जीवात्मा मुक्त हो जाता है।

मोक्ष शब्द संस्कृत के 'मुच्' अर्थात छोड़ना या मुक्त करना धातु से सिद्ध हुआ है। मोक्ष का अर्थ है सभी प्रकार के बंधनों से मुक्ति। विशेषत: मनुष्य अर्थ व काम की आसक्ति के बंधन में जकड़ा न रहे, उससे मुक्त हो जाये, मन निरासक्त हो जाये, यह है इस पुरुषार्थ का एक अभिप्राय। इससे भी आगे बढ़कर यह भावना कि जन्म के साथ मिली और मृत्युपर्यन्त साथ देने वाली मेरी देह और उसमें गुँथ गयी देहासक्ति तथा क्रोध, लोभ, आशा, तृष्णा आदि विकार गल जायें, यह है उसी अभिप्राय का दूसरा भाग। किन्तु मोक्ष की कल्पना केवल नकारात्मक नहीं है। वह सकारात्मक भी है, भावात्मक भी है, किम्बहुना वह भावात्मक ही है। पहले शरीर-मन-बुद्धि के परे रहने वाले शाश्वत आत्मस्वरूप 'मैं' को पहचानना और उसके सहारे 'मैं और मेरा' के बोध की कक्षा को बढ़ाते-बढ़ाते अखिल चराचर में व्याप्त परमात्मा के साथ उसे एक कर देना इस पुरुषार्थ का वास्तविक अर्थ है। मनुष्य केवल पंचमहाभूतों का संघात नहीं। "ममैवांशो जीवलोके जीवभूत: सनातन:" - इस वचन के अनुसार जीव ईश्वरीय चेतना का अंश होने के नाते उस ईश्वरीय अंश का, और सर्वव्यापी परमात्मा के साथ अपने एकात्म संबंध का बोध एवं अनुभूति हो और अन्त में द्वैत के मोह-पटल दूर होकर 'मैं नहीं तू ही' की परमानन्द स्वरूप अवस्था प्राप्त हो, इतना व्यापक और रचनात्मक आशय इस मोक्ष पुरुषार्थ में है। मोक्ष को हमारे यहाँ मानव जीव का अंतिम लक्ष्य माना गया है। लोकमान्य तिलक ने इस संबंध में कहा है- "जबसे मनुष्य इस पृथ्वी पर आया, तबसे सभी दृश्यमान एवं नाशवन्त सृष्टि का मूलभूत अमृतत्व खोजने और उसे प्राप्त करने का विचार वह लगातार करता रहा है। आधिभौतिक शास्त्र एवं

विज्ञान चाहे कितनी ही प्रगति करे, सभी आधिभौतिक सृष्टि-विज्ञान को बगल में दबाये हमारा दर्शन सदा उसके आगे ही दौड़ता रहेगा। दो-चार हजार वर्ष पूर्व यही स्थिति थी और अब पाश्चात्य देशों में भी वही दिखाई देती है।" (गीता रहस्य, पृष्ठ 101)

धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, इन चतुर्विध पुरुषार्थों में धर्म आधारभूत पुरुषार्थ है तो मोक्ष परम पुरुषार्थ। शरीर-मन-बुद्धि-आत्मा के सुख के लिये जिन चतुर्विध पुरुषार्थों की योजना हमारे यहाँ है, उन्हीं में मोक्ष एक पुरुषार्थ है, इसे भुलाना नहीं चाहिए।

इसका अर्थ यह हुआ कि मोक्ष पुरुषार्थ भी सुख-प्राप्ति के लिये ही है। इससे भी आगे जाकर कह सकते हैं कि मोक्ष पुरुषार्थ की सिद्धि घनीभूत परमसुख की अखंड अनुभूति देने वाली अवस्था है।

चतुर्विध पुरुषार्थ की एकात्मता

मोक्ष-प्राप्ति के लिये कर्ममार्ग, भक्तिमार्ग, व ज्ञानमार्ग, ये तीन प्रमुख मार्ग हमारे यहाँ बताये गये हैं। इनमें कर्ममार्ग का संबंध शरीर के साथ, भक्तिमार्ग का मन के साथ और ज्ञानमार्ग का बुद्धि के साथ है। यह बात यद्यपि सत्य है, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि मोक्ष पुरुषार्थ का मार्ग अन्य तीन पुरुषार्थों के मार्गों से सर्वथा स्वतंत्र या समानान्तर चलता है। भक्ति-समन्वित, ज्ञानयुक्त निष्काम कर्म मोक्ष का मार्ग है। कर्मविहीन भक्ति केवल भावुक होती है। भक्तिहीन कर्म नीरस होता है। ज्ञानरहित कर्म अंधा होता है। भक्ति एवं कर्महीन ज्ञान पंगु होता है। सुख का विचार करते समय शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा का विचार जिस प्रकार से अपरिहार्य है, उसी प्रकार चूँकि मोक्ष परम सुख है, उस सुख की ओर जाने वाला मार्ग भी स्वभावतः एकात्म होता है।

इन चारों पुरुषार्थों का एकात्म स्वरूप स्पष्ट करते समय दीनदयाल जी ने कहा है, "इस प्रकार हमारी संस्कृति में मानव की प्रकृति को ध्यान में लेकर उसके शरीर, मन, बुद्धि व आत्मा, सबका विचार अपने सामने रखा है। मनुष्य की सभी प्रकार की क्षुधाएँ (भूख) पूरी करने की व्यवस्था उसने की है, किन्तु यह सावधानी भी बरती है कि एक भूख मिटाने के प्रयास में दूसरी भूख शांत करने का मार्ग कहीं

बंद न हो जाये या कोई तीसरी विपरीत भूख का निर्माण न हो जाये। भारतीय संस्कृति में चारों पुरुषार्थों का संकलित विचार किया गया है।

ये चारों पुरुषार्थ आपस में जुड़े हुए हैं। अब यहाँ यह मानना होगा कि कई बार अनेक वस्तुओं में किसी एकाध को ही विशेष महत्त्व देना पड़ता है और अन्य वस्तुएँ अपेक्षाकृत गौण रह जाती हैं, यद्यपि यह सत्य है कि मनुष्य के लिये अन्न व जल दोनों आवश्यक हैं, किन्तु प्यास लगी तो अन्न की अपेक्षा पानी की आवश्यकता अधिक होती है। इसके विपरीत, भूख लग जाये तो पानी की अपेक्षा अन्न की आवश्यकता अधिक प्रतीत होती है। इसी प्रकार कभी अर्थ को, कभी धर्म को, कभी काम को, तो कभी मोक्ष को प्रधानता देनी पड़ती है, परन्तु विचार सभी पुरुषार्थों का करना होता है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के शारीरिक कार्यक्रम में एक प्रकार है षट्पदी। षट्पदी में अपनी दृष्टि चारों मोहरों पर घूमती रहती है, परन्तु मान लीजिए कोई तीसरे मोहरे पर से आक्रमण करे तो उसी मोहरे पर पैर जमाकर उस आक्रमण का प्रतिकार करना होगा। मुझसे यदि कोई पूछे कि आप किस वाद को मानते हैं? तो मैं उत्तर दूँगा कि हम षट्पदीवाद को मानते हैं। हम केवल एक मोहरे पर नहीं, हम तो चारों मोहरों पर सतर्क रहने वाले लोग हैं। हम पूर्णतावादी एकात्मवादी हैं। पूर्ण मानव की, एकात्म मानव की यह संकल्पना हमारा आराध्य है, हमारी सभी आराधनाओं का निकष और साधन है। इन दिनों पाश्चात्य देशों में जो नाना प्रकार की विचारधाराएँ चलीं और उनके चलते सामाजिक, आर्थिक या राजनीतिक व्यवस्थाएँ खड़ी की गयीं, वे मानव-कल्याण का, मानव की उन्नति का उद्दिष्ट साध्य करने में असफल रहीं। इसका मुख्य कारण यही है कि उन्होंने शरीर मन-बुद्धि-आत्मा से युक्त चारों पुरुषार्थों को मानव के सामने नहीं रखा और उसके स्थान पर मानव की एकांगी और कई बार विकृत प्रतिमा अपने समक्ष रखी और उन व्यवस्थाओं का निर्माण किया।"

मनुष्य के शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा की सभी क्षुधाएँ तृप्त होकर उसका सर्वांगीण एवं संतुलित विकास हो, इसके लिये भारतीय संस्कृति में व्यक्ति के समक्ष जो चार पुरुषार्थ रखे गये हैं उनका विचार

हमने अब तक किया। इन चतुर्विध पुरुषार्थों से युक्त पूर्ण मानव ही एकात्म मानव दर्शन का केन्द्र-बिन्दु है। किन्तु इस संसार में मानव अकेला नहीं रहता, अन्य लोग भी उसके साथ रहते हैं। परिवार, जाति, राष्ट्र, सम्पूर्ण मानव समाज आदि विभिन्न स्तरों पर व्यक्ति का अन्य मानवों के साथ संबंध आता है। मानव-मानव के बीच यह संबंध और व्यवहार सुचारु रूप से चलते रहें और उसका व्यक्तिगत एवं समष्टि जीवन सभी अंगों से उन्नत एवं सुखी हो, इसके लिये जो विविध संस्थाएँ और व्यवस्थाएँ निर्मित की जाती हैं उनमें मानव को सहभागी होना पड़ता है। उसे इन संबंधों में और व्यवस्थाओं में प्राप्त कर्तव्यों को निभाना भी पड़ता है। इस मानव की ही दृष्टि, एकांगी, संकुचित या विकृत हो तो वह अपने इस कर्तव्य को ठीक प्रकार से नहीं निभा पायेगा। अब तक चतुर्विध सुखों व पुरुषार्थों का जो विवेचन हमने किया, वह इसी हेतु कि मानव अपनी तैयारी कितने अंगों से और कैसी करे यह उसके ध्यान में आये। इस प्रकार पूर्णत्व का साधक मानव उत्तरोत्तर अधिकाधिक मानव-समूहों के सम्पर्क में आये तो उसके मन की रचना कैसी हो, प्रत्यक्ष व्यवहार कैसा हो, समाज के साथ उसका संबंध कैसा होना चाहिए, आदि बातों का विचार अब हमें करना है। जैसा कि पंडित दीनदयाल जी ने कहा है, "इन चतुर्विध पुरुषार्थों से युक्त पूर्ण मानव ही हमारी आराधना का निकष और साधन है। आदर्श पूर्ण मानव का यह चित्र हमारे मन में सुस्पष्ट एवं पक्का चित्रित हो तो फिर एकात्म मानव की दिशा में होने वाला उसका मार्गक्रमण ठीक से ध्यान में आना सरल हो जायेगा।" एक बार मनुष्य की रचना ठीक से हो गयी तो विश्व का मानचित्र अपने आप जुड़ जायेगा, ऐसा जो हमने आरंभ में कहा है, उसका आशय भी अधिकाधिक स्पष्ट होता जायेगा।



5

समष्टि-विचार (1)
व्यक्ति और परिवार

चतुर्विध पुरुषार्थ की साधना करने वाला व्यक्ति उत्तरोत्तर अधिकाधिक व्यक्तियों एवं जन-समूह के सम्पर्क में आता है। उसका संबंध और व्यवहार कैसा होता है, कैसा होना चाहिए, इस बारे में वह सोचने लगता है। तब परिवार, जाति, अपनी भाषा, अपना समाज, अपना राष्ट्र आदि विभिन्न घटक उसके समक्ष आते हैं। इस चढ़ते हुए क्रम में परिवार का क्रमांक पहले आता है। व्यक्ति व समष्टि को जोड़ने वाली वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण व प्रभावी कड़ी है। यह परिवार संस्था इस धरती पर प्राय: सभी समाजों में काफी प्राचीन समय से चली आ रही दिखाई देती है।

परिवार संस्था मानव जीवन के इतिहास में कब और किस परिस्थिति में उदित हुई, और इतने प्रदीर्घ काल तक वह कैसे टिकी रही, यह तो समाजशास्त्र के अध्ययन का विषय है। इसकी कारण-मीमांसा कुछ भी हो, एकात्म मानव दर्शन की दृष्टि से परिवार संस्था का महत्त्व बहुत है। इसका कारण यह है कि व्यक्ति को 'अहम्' से 'वयम्' की ओर ले जाने के अर्थात् समष्टि-जीवन के पहले पाठ परिवार में ही दिये जाते हैं। परिवार को कुटुम्ब भी कहा जाता है। परिवार में अनेक व्यक्ति होते हैं, पति-पत्नी, बहू-बेटियाँ, नाती-पोते, भाई-बहिन, ससुराल और

मायके के लोग आदि सभी का समावेश परिवार में होता है। इन सबके साथ आत्मीयता के संबंधों को प्रत्यक्ष में अनुभव भी किया जाता है। घर में कोई मंगल कार्य आ जाये तो उसके छोटे-बड़े कामों में परिवार के सभी लोग अपने-अपने सामर्थ्य के अनुसार हाथ बँटाते हैं। परिवार पर कोई आपत्ति आ जाये, तो सब लोग मिलकर सामना करते हैं, मार्ग ढूँढ लेते हैं।

जीवन की अनेक झंझटों की जड़ में मुख्य कारण पैसा होता है। परिवार में कुछ लोग कमाने वाले होते हैं, कुछ नहीं। कभी कोई रोगी होता है, कभी एकाध पंगु भी होता है, परन्तु घर में आने वाले पैसे का विनियोग सबके सुख का विचार कर और आवश्यकता को ध्यान में रखकर ही किया जाता है। घर में जो कर्ता-धर्ता होते हैं वे लोग अपनी रुचि, अपनी आवश्यकताओं को एक ओर रखकर पहले दूसरों की आवश्यकताओं तथा रुचि और अरुचि की ओर ध्यान देते हैं। इस बात का अच्छा संस्कार अन्य छोटे-बड़े सभी पर न्यूनाधिक मात्रा में होता रहता है। परिवार के व्यक्तियों के इस व्यवहार के बारे में न तो कोई नियमावली होती है और न कोई संविधान। सभी का आचरण आपस में समझदारी से और सहज रूप से चलता रहता है। यह सब कैसे होता है? हम सारे एक परिवार के हैं, हमारी धमनियों में एक ही रक्त बहता है, इस आत्मीयता के बोध से जो भाव-बंधन निर्मित होता है, उसी का यह चमत्कार है।

पाश्चात्य देशों में यह परिवार संस्था तेजी के साथ टूट रही है। दुर्भाग्य से हमारे यहाँ भी परिवार की परिधि संकीर्ण होती जा रही है। ऐसी स्थिति में सामने वाले को ठोकर लगे और पिछले वाला सबक सीखे, इस कहावत के अनुसार पाश्चात्य देशों को इस परिवेश में जो अनुभव हुए हैं उनको ध्यान में लेना होगा। पाश्चात्य देशों में परिवार संस्था टूटने के तीन प्रमुख कारण हैं : (1) व्यक्ति-स्वातंत्र्य के बारे में एकान्तिक कल्पना। (2) कम्युनिस्ट देशों में कम्यून्स और (3) समाजवादी प्रशासन या 'कल्याणकारी राज्य'। हम अब इन तीनों कारणों का कुछ विस्तार से विचार करेंगे।

व्यक्ति-स्वातंत्र्य

किसी भी संस्था के सुचारु संचालन के लिये अनुशासन की अपेक्षा होती है। परिवार संस्था भी इसके लिये अपवाद नहीं है। परिवार संस्था में व्यक्ति स्वतंत्र तो होता है, फिर भी परिवार के सुख के लिये, हित के लिये व्यक्ति को कभी-कभी न्यूनाधिक मात्रा में अपनी स्वतंत्रता को कुछ सीमित करना पड़ता है, बड़ों की बात सुननी पड़ती है। सुखों के भोग पर अपने आप कुछ सीमाएँ पड़ जाती हैं। ऐसी सीमाएँ व्यक्ति की स्वतंत्रता पर आघात हैं, ऐसी भावना पश्चिम के अनेक देशों में बल पकड़ती जा रही है। वहाँ धनार्जन करने (कमाने) वाला पुत्र विवाह होते ही माता-पिता से अलग हो जाता है। वह सोचता है कि अब माँ-बाप दोनों एक-दूसरे की संगत में शेष जीवन बिताएँ या वृद्धाश्रम में चले जाएँ। बहुत ही छोटे-छोटे कारणों से उधर जो बहुत अधिक तलाक हो रहे हैं, उनके कारण भी परिवार संस्था के साथ ही संस्कारक्षम बालकों का भी सारा भावविश्व ध्वस्त हो रहा है।

कम्यून्स

मार्क्सवादी विचारधारा के अनुसार परिवार एक कृत्रिम संस्था है। उनके मतानुसार वह पूँजीवादी समाज-व्यवस्था की संतान है। व्यक्ति और मानव के बीच परिवार संस्था एक बड़ा भारी रोड़ा है, इसलिये परिवार संस्था को नष्ट करना होगा। (रूस तथा चीन ने इस दृष्टि से अनेक 'कम्यूनों' की स्थापना की।) परिवारविहीन समाज-व्यवस्था का निर्माण करने का यह मार्ग कम्युनिस्टों ने अनुभव के बाद छोड़ दिया। मनुष्य की नैसर्गिक प्रवृतियों को अवसर देना उनके लिये अपरिहार्य हो गया।

समाजवादी प्रशासन या 'कल्याणकारी राज्य'

व्यक्ति की स्वतंत्रता के बारे में एकान्तिक कल्पना और 'कम्यून्स' के कारण परिवार संस्था को जो आघात झेलने पड़े, वे समझ में आ सकते हैं। किन्तु 'कल्याणकारी राज्य' परिवार संस्था को हानि पहुँचा सकता है, यह बात सरलता से ध्यान में आने वाली नहीं है। किन्तु

वास्तविकता ऐसी ही है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि व्यक्ति के निर्वाह के साधन, शिक्षा, आरोग्य आदि लगभग सभी आवश्यकताओं का दायित्व कल्याणकारी राज्य में प्रशासन अपने ऊपर ले लेता है। सामान्यत: यह दायित्व परिवार का होता है। अब क्योंकि यह दायित्व प्रशासन ने अपने ऊपर ले लिया है, व्यक्ति को परिवार संस्था की आवश्यकता प्रतीत नहीं हो रही है। श्री पु.ग. सहस्रबुद्धे ने अपने 'समृद्धि का अभिशाप' शीर्षक लेख में इस समस्या का विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। श्री सहस्रबुद्धे कहते हैं - "मनुष्य कार्य करने को उद्यत होता है, परिश्रम करता है, चिन्ता करता है, परिस्थितियों के साथ संघर्ष करता है, मन ही मन कुछ ठान लेता है, समय बिताता है, अपनी कुछ क्षुधाओं को ताक पर रख देता है, वासनाओं को दबा देता है। यह सब कब हो सकता है? तभी जबकि उस पर कोई दायित्व हो। बाल-बच्चों का पोषण करना, उनके और अपने भविष्य के लिये कुछ जुटाना, और इसमें से समय, शक्ति तथा धन बच जाय तो कुछ सामाजिक कार्य करना, अपने बंधु-बांधवों की सहायता करना, इस प्रकार का दायित्व यदि मनुष्य के सिर पर हो तभी वह परिश्रम करता है, संयम बरतता है और हर प्रकार का कष्ट उठाकर अवसर आने पर आत्म-बलिदान भी कर देता है।

समाजवादी समाज-रचना व कल्याणकारी राज्य ने अपने नागरिकों को इन सब दायित्वों से मुक्त कर दिया है। बच्चे पैदा होते ही शासन की ओर से अनुदान मिलना प्रारंभ हो जाता है। उसकी शिक्षा-दीक्षा का दायित्व सरकार पर होता है। उसकी आजीविका निश्चित है। घर के सब लोगों को दवा-दारू की सहायता मुफ्त में मिलती है। बुढ़ापे का सारा प्रबंध सरकार ही करती है। फिर घर-गृहस्थी चलाने वाले कर्ता पुरुष पर उत्तरदायित्व रहा ही क्या? अन्य देशों में पढ़ाई के चलते समय ही छात्रों पर कुछ दायित्व आ पड़ते हैं। अपने छोटे भाई-बहिनों और माता-पिता की देखभाल का दायित्व धीरे-धीरे अपने ऊपर आने वाला है, यह बोध इस आयु में ही उनमें पैदा हो जाता है। पारिवारिक कर्तव्यों की यह जो आँच है, वह समाजवादी समाज-रचना व कल्याणकारी राज्य

में मनुष्य के मन को नहीं लगती। फिर समाज-ऋण के बारे में भला वह क्यों सोचेगा?"

(मेरा चिन्तन, द्वितीय संस्करण लेखक पु.ब. सहस्रबुद्धे)

परिवार व्यक्ति को समष्टि-जीवन का पहला पाठ देने वाली संस्था है, यह जो ऊपर कहा गया है वह कितना अर्थपूर्ण है, यह इस उदाहरण से स्पष्ट हो जायेगा। आपस में स्नेह, एक दूसरे के लिये कष्ट उठाने की प्रवृत्ति, सहनशीलता आदि कई सद्‌गुणों के संस्कार, जिनकी समाजधारणा के लिये आवश्यकता होती है, परिवार-जीवन में स्वाभाविक रूप से मिल जाते हैं। परिवार की इस कल्पना को अधिकाधिक विशाल करते जाना, उसको समाजव्यापी व विश्वव्यापी बनाना ही आत्मिक विकास की दिशा है और यही एकात्म मानव दर्शन की भी केन्द्रीय कल्पना है।

समाज, राष्ट्र, विश्वमानव, सृष्टि, परमेष्ठी, सब, एकात्म मानव दर्शन के अधिकाधिक विशाल होते विस्तारों आदि को संयुक्ताक्षर मानें, तो परिवार-जीवन के ये पाठ उसके मूलाक्षर हैं। मूलाक्षरों की लिखावट सही और सुडौल हो तो संयुक्ताक्षर लिखने कठिन नहीं होते। व्यक्ति से प्रारंभ कर 'अहम्' से 'वयम्' की ओर मार्गक्रमण करते हुए अन्त में सम्पूर्ण चराचर के साथ एकात्मता प्राप्त करने का जो आदर्श भारतीय संस्कृति ने मानव के सामने रखा है, उसका वर्णन भी 'वसुधैव कुटुम्बकम्' शब्दों में ही किया गया है।

○○

6

समष्टि-विचार (2)
व्यक्ति और समाज

यहाँ हमने मनुष्य का विचार व्यक्ति के नाते किया है। उसके समन्वित विकास की दृष्टि से चारों पुरुषार्थों का विचार भी किया है। किन्तु शरीर, मन, बुद्धि व आत्मा का समुच्चय व्यक्ति में होता है और यह व्यक्ति केवल 'मैं' तक सीमित न रहकर 'हम' के साथ अपरिहार्य रूप से जुड़ा होता है। इस संसार में मनुष्य कभी अकेला नहीं रहता, रह भी नहीं सकता। समाज से दूर गिरि-जंगल की गुफाओं में बैठकर परमात्मा की प्राप्ति के लिए तप करने वाले कुछ योगी आज भी हैं। परन्तु उन्हें मनुष्य देह की प्राप्ति, पूर्वायुष्य में भरण-पोषण-संस्कार आदि बातें समाज के कारण ही प्राप्त हुई होती हैं। व्यक्ति और समाज का नाता ऐसा अटूट होने के कारण समाज का भी विचार करना अपरिहार्य है।

समाज के बारे में जब विचार करने लगते हैं तो पहला प्रश्न उपस्थित होता है कि व्यक्तियों का समूह नामक यह समाज उत्पन्न कैसे होता है? व्यक्ति व समाज का संबंध क्या है? इस विषय में पाश्चात्य लोगों की भूमिका यह है कि व्यक्ति इकट्ठे होकर आपसी हितों व संबंधों की रक्षा करने हेतु समाज का निर्माण करते हैं। इसे 'सोशल काण्ट्रैक्ट थ्योरी' का नाम दिया गया है। इसी भूमिका से वहाँ के राजनीतिक एवं

सामाजिक जीवन की रचना होती है। वहाँ की विविध विचारधाराओं में यद्यपि समाज शब्द का उल्लेख होता है, फिर भी अपने-अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए आपसी तालमेल करते हुए, कुछ बन्धन, कुछ संकेत स्वीकार कर इकट्ठा रहने वाले व्यक्ति-समूह को समाज मानना उनकी धारणा होती है। वहाँ के चिन्तकों में मतभेद केवल एक ही प्रश्न पर होता है। वह प्रश्न यह है कि यदि व्यक्तियों ने इकट्ठे होकर समाज का निर्माण किया तो फिर अवशेष सत्ता (रेसिड्यूअरी पावर) किसके हाथ में हो? समाज के या व्यक्ति के? क्या व्यक्ति को समाज पर कुछ नियंत्रण रखने के अधिकार हैं? अथवा क्या समाज व्यक्ति पर कोई प्रतिबंध लगा सकता है? या इन सब बातों में व्यक्ति पूर्णतः स्वतंत्र है।

समाज-निर्माण के बारे में इस धारणा से नाना प्रकार के, परस्पर विरोधी विचारधाराओं को जन्म देने वाले अनेक प्रश्न पैदा होते हैं। पहला प्रश्न है समाज व व्यक्ति में श्रेष्ठ कौन-समाज या व्यक्ति? कुछ लोगों का कहना है कि व्यक्तियों ने एकत्रित होकर समाज का निर्माण किया है, अतः स्वाभाविक रूप से निर्माता होने के नाते व्यक्ति समाज से श्रेष्ठ है। समाज का अस्तित्व भी व्यक्ति की सुविधा और उसके सुखी जीवन के लिए ही होता है। इसके विपरीत पक्षधर लोगों का कहना है कि व्यक्ति के लिए समाज का निर्माण करना अपरिहार्य हो गया, इससे तो यही सिद्ध होता है कि समाज व्यक्ति से हर स्थिति में श्रेष्ठ है। अतः व्यक्ति और समाज में स्पर्धा है। एक को दूसरे से श्रेष्ठ या कनिष्ठ मानना होगा, इसी बात पर दोनों पक्षों का मतैक्य दिखाई देता है।

इससे विचारकों के दो गुट पैदा हो गये हैं। पहले गुट ने व्यक्ति को सार्वभौम मानकर समाज को व्यक्ति की ऐहिक इच्छापूर्ति का साधन माना है। व्यक्ति के लिए अनिर्बन्ध, निरपवाद स्वतंत्रता, उसकी समाज-रचना तथा सामाजिक आंदोलन के केन्द्रबिन्दु हो गये हैं। यदि समाज के दो व्यक्तियों की स्वतंत्रता में विरोधाभास या संघर्ष खड़ा हो जाय, तो उसमें से मार्ग कैसे निकाला जाय? इस प्रश्न का उत्तर इस गुट के समर्थकों ने यह दिया कि इसका कोई उपाय नहीं, यह तो जीवन का सनातन संघर्ष है। जिसके पास अधिक शक्ति होगी, वह इस संघर्ष में टिका

रहेगा। जो अधिक बलवान है उसका अस्तित्व रहेगा। अन्य लोग नष्ट हो जायेंगे (सरवाईवल आफ दि फिटेस्ट)। यह तो प्रकृति का नियम ही है। बड़ी मछली छोटी मछली को अपना भक्ष्य अवश्य बनायेगी। इस विचार-प्रणाली को 'व्यक्ति-सत्तावाद' कहा जा सकता है।

दूसरे गुट की विचारधारा के अनुसार समाज हर स्थिति में व्यक्ति से श्रेष्ठ है। व्यक्ति-सत्तावाद की तुलना में इस विचारधारा को 'समाज-सत्तावाद' नाम दिया जा सकता है। समाज-सत्तावाद का प्रतिपादन है कि व्यक्ति का अस्तित्व समाज पर निर्भर होता है, उसके सारे व्यवहार समाज को सुदृढ़ तथा बलशाली बनाने में सहायक होने चाहिए। यही समाज-व्यवस्था का एकमेव लक्ष्य होना चाहिए। ऐसा करते समय व्यक्ति की स्वतंत्रता का कुछ मात्रा में संकोच करना पड़े तो भी कोई हानि नहीं। समाज संगठित एवं सुखी हो तो व्यक्ति के नाते केवल अपनी भावनाओं का, रुचि-अरुचि या आशा-आकाँक्षाओं का अलग से विचार न करते हुए केवल समाज की आवश्यकताओं का ही विचार कर, अपना आचार-विचार उसके अनुरूप रखना चाहिए।

आज पाश्चात्य देशों में ये दोनों विचारधाराएँ प्रचलित हैं। पहली विचारधारा वाले लोग व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के नाम पर समाज की उपेक्षा करते हैं तो दूसरी वाले लोग समाज को सर्वसत्ताधीश बनाने की धुन में व्यक्ति के बहुरंगी व्यक्तित्व को समाप्त कर डालते हैं। पूँजीवादी समाज-व्यवस्था पहली विचारधारा की संतान है तो समाजवादी और कम्युनिस्ट समाज-रचना समाज-सत्ता की निष्पत्ति है।

व्यक्ति की प्रभुता हो या समाज की, यह विवाद इसलिए खड़ा हुआ कि यह मान लिया गया था कि व्यक्तियों ने एकत्र होकर समाज का निर्माण किया। इस मूल विचार का एक छोर है व्यक्ति और दूसरा है समाज। उनकी खींचातान में केवल तनाव ही हाथ में आता है। एक विचारधारा में समाज के मूल्य पर व्यक्ति स्वयं पुष्ट होना चाहता है तो दूसरी विचारधारा में वस्तुतः जिस व्यक्ति के कारण समाज को समाज की संज्ञा प्राप्त हुई, सभी प्रकार का बल प्राप्त हुआ, उस व्यक्ति का व्यक्तित्व ही दबा दिया जाता है। ये दोनों विचार एकांगी हैं। इन विचारों

के द्वारा समाज के अन्दर एकाध वर्ग, एकाध गुट बलवान हो सकता है, परन्तु समाज-जीवन के अनेक क्षेत्रों में तनाव व संघर्ष प्रारम्भ होकर नयी-नयी समस्याएँ खड़ी होंगी, जिनसे समाज-जीवन ही अस्वस्थ हो जायेगा। व्यक्ति-सत्तावाद से पैदा हुए पूँजीवाद, समाज-सत्तावाद से उदित हुए समाजवाद व कम्युनिज्म का आधुनिक भीषण इतिहास देखने पर यह बात ठीक से समझ में आ सकेगी।

पाश्चात्यों के समाज-जीवन में आज प्राणलेवा स्पर्धा, तनाव, रक्त-पात संघर्ष आदि बढ़ते दिखाई देते हैं। इसका प्रमुख कारण उनके द्वारा स्वीकार की गयी 'सोशल काण्ट्रैक्ट थ्योरी' है। श्री गुरुजी ने इस विषय का विवेचन इन नपे-तुले शब्दों में किया है: "व्यक्ति यदि कहने लगे कि 'अन्ततोगत्वा यह व्यक्ति-व्यक्ति के बीच केवल एक समझौता है, इसके पीछे कोई भी पवित्र अधिष्ठान नहीं है और इसीलिए यह समझौता मेरे स्वार्थ के लिए पोषक न हो तो उसे ठुकराने की स्वतंत्रता मुझे है' तो इसका इस समाज के पास कोई संतोषजनक उत्तर नहीं होगा। जिन लोगों ने यह समझौता किया, वे व्यक्ति ही यदि उसे ठुकराने के लिए उद्यत हो जायें तो यह सारा अधिष्ठान ढह जायेगा और फिर समाज के नाम से पहचानी जाने वाली वस्तु छिन जायेगी, नष्ट हो जायेगी। समाज-जीवन ही इस प्रकार ध्वस्त हो गया तो फिर सुख के लिये व्यक्ति की जो दौड़धूप चलती है उसका फल क्या होगा, इसकी कल्पना करने के लिये बहुत बड़ी बुद्धिमत्ता की आवश्यकता नहीं है।"

(विचारधन, दूसरा संस्करण पृष्ठ 12-13)

एकात्म दर्शन की भूमिका यह है कि समाज व्यक्तियों का बनाया होता है- यह पाश्चात्य लोगों की मूल धारणा ही गलत है। यह तो ठीक है कि समाज व्यक्तियों का एक समूह होता है; फिर भी व्यक्ति एकत्रित हो गये और उन्होंने समाज का निर्माण किया, ऐसा कहीं भी दिखाई नहीं देता। समाज कोई क्लब नहीं है, ज्वाइंट स्टॉक कम्पनी नहीं है या सहकारी संस्था भी नहीं है। समाज इस प्रकार कृत्रिमता से नहीं बनाया जा सकता। 5-10 लाख या 10-20 करोड़ लोग एकत्रित हो गये, उन्होंने 'आर्टीकल ऑफ एसोसिएशन' (समाज स्थापित करने के बारे

में निवेदन) प्रकाशित किया, सबकी एक सभा बुलायी, उसका पंजीकरण किया और तब से उस जन-समूह को समाज कहा जाने लगा, ऐसा कहीं भी, कभी नहीं होता। समाज तो प्रकृति से होने वाली एक जीवमान निर्मिति होती है।

समाज अपनी रक्षा के लिये, जीवन के आदर्शों की अभिव्यक्ति के लिये और विकास के लिये अनेक प्रकार की व्यवस्थाएँ और संस्थाएँ स्थापित करता है। शिक्षा के लिए गुरुकुल-संस्था, देश की अन्तर्बाह्य रक्षा के लिए राज्य-संस्था, व्यक्ति और समाज के विकास के लिये वर्णाश्रम व्यवस्था आदि प्राचीन भारतीय संस्थाओं का इस परिप्रेक्ष्य में उल्लेख किया जा सकता है। विधि-मंडल, नगरपालिका, सहकारी संगठन, संयुक्त राष्ट्र संघ आदि आज के युग की संस्थाएँ इसी कोटि में आती हैं। हो सकता है कि 'सोशल काण्ट्रैक्ट थ्योरी' इन पर भी लागू होती हो, परन्तु कोई भी समाज इस प्रकार की कृत्रिम पद्धति से नहीं बना। समाज एक 'जैविक सृष्टि' (लिविंग ऑरगैनिज्म) है। कृत्रिम समूह और आधिजैविक सृष्टि में मौलिक अन्तर होता है। केवल ऊपरी विचार कर यह अन्तर ठीक से समझ में नहीं आयेगा। उदाहरण के लिए मोटर दौड़ती है और घोड़ा भी दौड़ता है, किन्तु दोनों में अन्तर यह है कि मोटर अनेक अलग-अलग उपकरण जोड़कर कारखाने में बनायी जाती है, जब कि घोड़ा कारखाने में नहीं बनाया जाता, वह जन्म लेता है। मोटर के दौड़ने की क्षमता, वेग आदि बातें बाहर से निर्मित या नियंत्रित होती हैं, जबकि घोड़े की शक्ति उसकी अपनी आंतरिक शक्ति होती है। जीवमान वस्तु व कृत्रिम वस्तु में यही अन्तर होता है। वृक्ष धरती से उगते हैं, किंतु उनका विकास अन्दर से होता है; बाहर से टहनियाँ, पत्ते, फूल आदि चिपकाने से पेड़ नहीं बना करता।

व्यक्तियों ने एकत्रित होकर समाज का निर्माण किया, पाश्चात्य लोगों की इस 'सोशल काण्ट्रैक्ट थ्योरी' को गलत मान लेने पर भी समाज का निर्माण कैसे होता है और व्यक्ति व समाज का वास्तविक नाता क्या है, ये प्रश्न अनुत्तरित ही रह जाते हैं।

हमारे दैशिक शास्त्र (देश और देशभक्ति संबंधी शास्त्रीय

विवेचन) के अनुसार समाज सहज सकेन्द्रीय जैविक सृष्टि है। कृत्रिम मानवीय उपायों से न तो वह बनता है और न नष्ट ही होता है जिन कारणों से और जिन पद्धतियों से सजीव संसार का निर्माण और लय होता है, उन्हीं कारणों से और पद्धतियों से भिन्न-भिन्न समाजों का भी उदयास्त होता रहता है।

इस प्रतिपादन का संक्षिप्त आशय यह है कि समाज अनेक व्यक्तियों द्वारा एकत्रित होकर निर्मित की गयी संस्था नहीं है। किसी भी सजीव प्रणाली के समान समाज का भी जन्म होता है। इसीलिए शरीर व शरीर के अवयवों का जो परस्पर संबंध होता है, वही समाज व व्यक्ति का भी होता है। समाज व व्यक्ति का नाता एक प्रकार से अवयव-अवयवी स्वरूप का होने के कारण समाज महत्त्वपूर्ण है या व्यक्ति, यह प्रश्न ही व्यर्थ है।

व्यक्ति और समाज के संबंधों को हम अपने जीवन में अनेक प्रकार से अनुभव करते हैं। मनुष्य जन्मते ही कुछ बातें साथ लेकर आता है। उदाहरण के लिए, उसके माता-पिता। जन्म लेने वाले जीव को अपने माता-पिता का चयन करने की स्वतंत्रता नहीं है। उसके प्रत्यक्ष में जन्म लेने से पूर्व ही उसके माता-पिता निश्चित हो जाते हैं। जन्म के बाद व्यक्ति का नामकरण होता है। व्यक्ति का नाम भी, जिस समाज विशेष के साथ उसका नाता होता है, उसी की परिपाटी के अनुसार निश्चित होता है। उदाहरण के लिए किसी का नाम ज्ञानदेव हो तो प्रश्न पूछा जा सकता है कि यही नाम क्यों रखा है? कोई कह सकता है कि यह उसके माँ-बाप ने रखा है, इसीलिए। किन्तु माँ-बाप ने इसी नाम को क्यों चुना? डेविड क्यों नहीं रखा? दाऊद क्यों नहीं? रूसी, चीनी या जापानी नाम रखा जाय, ऐसा उन्हें क्यों नहीं लगा? इसका उत्तर स्पष्ट है कि वह व्यक्ति जिस समाज का घटक है, उसके अनुसार उसका नामकरण किया गया। आगे चलकर व्यक्ति बोलने लगता है, उसकी वह भाषा भी उसे समाज से ही मिलती है। सबसे पहले समाज ने जन्म देने वाली माँ दी, बाद में मातृभाषा दी, आगे चलकर समाज ने ही उसे शिक्षा दी, अच्छे संस्कार दिये। आजीविका चलाने का साधन समाज ही देता

है, किन्तु अन्न-वस्त्र और जीवनावश्यक वस्तुओं, सुखोपभोग और मनोरंजन के विविध साधनों, बुद्धि व मन का विकास करने वाले नाना क्षेत्रों का प्रावधान भी समाज ही व्यक्ति के लिए करता है। सुख-दुख के प्रसंगों में विशेष रूप से ध्यान में आता है कि समाज का अपने जीवन में कितना महत्त्वपूर्ण स्थान है। घर में विवाह, उपनयन या तीज-त्यौहार जैसे आनन्द के प्रसंग हों, तो स्वाभाविक रूप से हमें लगता है कि चार लोगों को निमंत्रित कर अपने इस आनन्द को बढ़ायें। यदि निमंत्रित लोग आकर सन्तुष्ट होकर चले गये तो एक प्रकार से कृतार्थता अनुभव की जाती है। उनमें से कुछ लोग न आयें तो मन सोचता रहता है कि कहीं न कहीं किसी बात की कमी रह गयी। ऐसा कभी नहीं मन में आता कि चलो चार लोग कम आये तो उतना खाने-पीने का खर्चा बच गया। विपदा आती है तो समाज की आवश्यकता विशेष रूप से अनुभव की जाती है। और कुछ न सही, कम से कम सांत्वना के शब्द कोई आकर कह दे तो उतने मात्र से मन का बोझ हल्का हो जाता है। एकाध अच्छा काम करने पर समाज के चार लोग आकर सराहना करते हैं, तो अच्छा लगता है।

व्यक्ति के अन्दर जो सुप्त गुण होते हैं उनका प्रकटीकरण व विकास समाज के कारण ही होता है। विविध विद्याओं और कलाओं का पाठ व्यक्ति को गुरुजनों से अर्थात् समाज से ही, प्राप्त होता है और उन क्षेत्रों में प्रवीणता प्राप्त करने वाले व्यक्ति का अभिनन्दन या सहयोग कर उसे प्रोत्साहन भी समाज ही देता है। छात्रों के बिना शिक्षक, श्रोताओं के बिना वक्ता, दर्शकों के बिना अभिनेता या अनुयायियों के बिना नेता की कल्पना भी हमें कितनी विचित्र लगती है। यही क्यों, अन्न, वस्त्र, सहारा, औषधोपचार जैसी जीवन की प्राथमिक आवश्यकताओं को समाज ही पूरा करता रहता है। व्यक्ति अपने कृतित्व एवं गुणों के बल पर समाज की, बहुत हुआ तो, दो-चार आवश्यकताओं को ही पूरा करता है। किन्तु समाज व्यक्ति की इससे कई गुणा अधिक आवश्यकताओं को पूरा करता रहता है। अपंग एवं रोगी व्यक्ति, नन्हे बच्चे, बूढ़े सबकी चिन्ता और पालन-पोषण भी समाज ही करता है।

व्यक्ति और समाज के संबंध का एक और भी पक्ष ध्यान देने योग्य है। अपने देश के परिवेश में कहा जाये तो राम, कृष्ण, भीष्म, बुद्ध, गुरु गोविन्द सिंह जैसे कई महापुरुष और सावित्री, लक्ष्मीबाई, पन्नादाई जैसी अनेक महान महिलाएँ यहाँ हो गयीं। स्थल और काल की दृष्टि से आज उनमें और हम में बहुत अंतर आ गया है, किन्तु बन्धु-प्रेम का आदर्श राम-लक्ष्मण का, प्रतिज्ञा भीष्म की, पराक्रम भीम का, उदारता कर्ण की, बलिदान गुरु गोविन्द सिंह और हकीकत राय का, शूरता रानी लक्ष्मीबाई की, त्याग पन्नाबाई का, पातिव्रत्य सती और सावित्री का, ये आदर्श आज भी हम अपने बच्चों के समक्ष रखते हैं। हजारों मील और सहस्रों वर्षों के अन्तर काटकर ये आदर्श पाठ अपनी पीढ़ी को इन श्रेष्ठ आदर्शों से संस्कारित कर, परम्परा की उस धरोहर को आने वाली पीढ़ी के हाथ सौंपने का कार्य समाज ही करता है। श्रेष्ठ आदर्शों की ऐसी अखंड संस्कार-परम्परा से ही समाज जीवित और एकात्म रहकर अपनी प्रगति करता रहता है।

व्यक्ति और समाज के बीच यह जो परस्पर संबंध है उसे स्पष्ट करते हुए दीनदयाल जी ने कहा है – "हम अपने व्यक्तिगत हित व अहित का विचार करते हुए ही समाज के हित और अहित का विचार करें, यही उचित व्यवस्था है। व्यक्ति का हित व समाज का हित, दोनों में कोई विरोध या संघर्ष नहीं है। कुछ लोग हमसे पूछते हैं कि आप व्यक्तिवादी हैं या समाजवादी? हमारा उत्तर होता है कि हम व्यक्तिवादी भी हैं और समाजवादी भी। भारतीय विचारधारा के अनुसार हम व्यक्ति की उपेक्षा नहीं करते और समाज-हित का विचार भी ओझल नहीं होने देते। क्योंकि हम समाज के हितों का विचार करते हैं इसलिए हम समाजवादी हैं, किन्तु साथ ही हम व्यक्ति की भी उपेक्षा नहीं करते इसलिए हम व्यक्तिवादी भी हैं। किंतु हम व्यक्ति को सर्वेसर्वा नहीं मानते, इसलिए हमारा कहना होता है कि हम व्यक्तिवादी नहीं हैं। किन्तु साथ ही हम यह भी नहीं मानते कि समाज को व्यक्ति की सभी स्वतंत्रताओं का अपहरण करने का अधिकार है और उसे किसी एक सीमा में बाँधकर निर्जीव यंत्र के समान उससे काम लेने का अधिकार

है। इसलिए हम समाजवादी भी नहीं हैं। हमारी मान्यता है कि व्यक्ति के बिना समष्टि की कल्पना करना भी असंभव है और समष्टि के बिना व्यक्ति का मूल्य शून्य है। भारतीय संस्कृति में व्यक्ति और समाज, दोनों का समन्वित कल्याण साध्य करने की दृष्टि से ही सारा चिन्तन प्रस्तुत किया गया है।"

○○



7

समष्टि के पुरुषार्थ

व्यक्ति के समान समाज भी एक जीवमान घटक है, ऐसा कहने के बाद स्वाभाविक प्रश्न यह उपस्थित होता है कि क्या समाज के भी शरीर, मन, बुद्धि, आत्मा होते हैं? समाज यदि कुछ लोगों द्वारा आपस में संविदा (करार) कर निर्मित की हुई वस्तु नहीं है, यदि वह एक सजीव सत्ता है, तो फिर किसी जीवमान घटक के समान समाज के भी शरीर, मन, बुद्धि व आत्मा अवश्य होंगे। पंडित दीनदयाल जी ने दैनिक जीवन का एक परिचित उदाहरण देकर इस बात को स्पष्ट किया है। उन्होंने कहा है- "समूह के भी शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा होते हैं। उदाहरण के लिए 40 लोगों का एक क्लब है। ये 40 लोग मिलकर उस क्लब का शरीर तैयार करते हैं। इकट्ठे होकर, इकट्ठे रहकर एक क्लब बनाने की इच्छा या संकल्प उस क्लब का मन होता है। यह इच्छा न हो तो क्लब का निर्माण नहीं होगा। यह इच्छा समाप्त हो जाय तो क्लब भी विसर्जित हो जायेगा। इस इच्छा के मूर्तरूप लेने पर क्लब का कारोबार सुचारु ढंग से चलाने के लिए कुछ व्यवस्थाएँ करनी पड़ती हैं। सदस्यता, पदाधिकारियों के चुनाव, चन्दा आदि के बारे में सोच-समझकर कुछ नियम बनाने पड़ते हैं। इन नियमों के सहारे क्लब का करोबार ठीक ढंग से चल सकता है। (ये नियम और व्यवस्थाएँ क्लब की बुद्धि हैं) किन्तु क्लब बनाने की इच्छा मन में होना और उस के लिये

विचारपूर्वक कुछ नियम आदि बनाना ही पर्याप्त नहीं होता। क्लब के कुछ उद्देश्य भी होते हैं। वह उद्देश्य केवल मनोरंजन का हो, मनोरंजन के साथ सेवा का हो, या कुछ और हो, क्लब का कारोबार अन्ततः इस लक्ष्य को सामने रखकर ही चलाया जाता है। यह उद्दिष्ट या लक्ष्य ही उस क्लब की आत्मा है।"

केवल मनोरंजन या उसके जैसे ही किसी सीमित लक्ष्य को सामने रखकर चलायी जाने वाली छोटी सी संस्था के भी जहाँ शरीर, मन, बुद्धि, आत्मा होते हैं, तो फिर पीढ़ियों से एकत्रित रहने वाले, एॅकसन्ध, एकरस समाज के बारे में-राष्ट्रजीवन के बारे में-तो ये सब बातें कहीं अधिक प्रबल और उत्कट रूप में अवश्य ही रहती होंगी।

पहली बात है राष्ट्र का शरीर। उस राष्ट्र की भूमि और उस भूमि में परम्परा से पुत्र के रूप में रहता आया जन-समूह उस राष्ट्र का शरीर है। हमारे यहाँ की प्राचीन परिभाषा में उसे 'देश' की संज्ञा दी गयी है। इस जन-समूह की इच्छा या उसका सामूहिक जीवन का संकल्प उस राष्ट्र का मन है। तीसरी बात यह है कि इस समाज का और राष्ट्र का जीवन ठीक से चलता रहे, अर्थात् उसकी धारणा के लिए कुछ नियम व कुछ व्यवस्थाएँ हों, जिन्हें उस राष्ट्र का समष्टि-धर्म कहा जाता है। और चौथी बात है उस राष्ट्र का जीवनलक्ष्य या जीवन का हेतु जो उस राष्ट्र की आत्मा है। इन चारों रसायनों से राष्ट्र का निर्माण होता है। संक्षेप में, जिस प्रकार शरीर, मन, बुद्धि, आत्मा के मिलने से एक व्यक्ति बनता है, उसी प्रकार देश (भूमि व जन), सामूहिक संकल्प, धर्म और जीवन-लक्ष्य मिलकर एक राष्ट्र का निर्माण करते हैं।

व्यक्ति की भाँति समाज के भी शरीर-मन-बुद्धि होते हैं और यही नहीं, उस समाज का अपना एक स्वतंत्र व्यक्तित्व भी होता है। दीनदयाल जी कहते हैं-व्यक्ति की शक्ति, बुद्धि, भावना, सबका योग ही समाज की शक्ति, बुद्धि और मन है, ऐसी बात नहीं। समाज की बुद्धि, भावना, क्रियाशक्ति, सब मूलतः भिन्न होती हैं। अतः कभी-कभी अनुभव किया जाता है कि अकेला व्यक्ति दुर्बल होकर भी समाज के सदस्य के नाते पर्याप्त पराक्रमी होता है। व्यक्ति के नाते जो-जो बातें

सहन की जाती हैं, वे सब समाज के नाते सहन नहीं की जातीं। उदाहरण के लिये आपने किसी व्यक्ति को चार गालियाँ दीं, तो शायद वह व्यक्ति अपने मान-अपमान की अधिक चिंता नहीं करेगा, किन्तु समाज के नाम पर किसी ने कोई अपशब्द कह दिया तो वह व्यक्ति क्रोध से लाल हो जायेगा। इसी प्रकार से व्यक्ति के नाते कोई मनुष्य भला हो, किन्तु समाज के नाते वह बुरा भी हो सकता है। इसके ठीक विपरीत, समाज के नाते अच्छा हो, किन्तु एक व्यक्ति के नाते वह बुरा भी हो सकता है।

एक बार श्री विनोबा भावे व राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सरसंघचालक श्री गुरुजी के बीच कुछ चर्चा चल रही थी। तब एक प्रश्न उपस्थित हुआ कि हिन्दुओं के विचार करने की पद्धति और मुसलमानों के विचार की पद्धति में अन्तर कहाँ है? श्री गुरुजी ने विनोबा जी से कहा कि "भले-बुरे लोग दोनों समाजों में हैं। हिन्दू व मुसलमान दोनों में अच्छे, ईमानदार, दूसरों की सेवा करने वाले लोग होते हैं। उसी प्रकार गुंडे भी दोनों समाजों में पाये जाते हैं। अतः अच्छे या बुरे व्यक्ति, किसी एक ही समाज की बपौती नहीं माने जा सकते। किन्तु दिखाई देता है कि व्यक्ति के नाते हिन्दुओं में जो गुंडे और बदमाश भी होते हैं, वे भी जब समाज के रूप में एकत्रित होते हैं, तो वे अच्छी बात का ही विचार करते हैं। उस समय उनके मन में कोई पाप खड़ा नहीं होता। किन्तु इसके विपरीत, जब 10 मुसलमान एकत्रित हो जाते हैं तब, व्यक्ति के नाते मुसलमानों में जिन बातों को अच्छा नहीं माना जाता, वैसी बातों को उस समूह में इकट्ठे हुए मुसलमान अच्छा मानते हैं। ऐसे प्रसंग में उनकी विचार करने की पद्धति कुछ अलग ही होती है, ऐसा अनुभव किया गया है।" विनोबा जी ने इस वास्तविकता को स्वीकार तो किया, किन्तु इसका कारण क्या है, उन्होंने नहीं बताया।

अब तो कुछ पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों को भी यह बात लगी है कि व्यक्ति के समान समाज के भी अपने अलग से शरीर-मन-बुद्धि व आत्मा होते हैं। मैक्डूगल ने समूह-मन के बारे में कुछ विचार रखे हैं। उन्होंने समाज को 'ऑर्गेनिज्म ऑफ ऑर्गेनिज्म्स' कहा है। समाज का

ऐसा समूह-मानस निर्मित होने में काफी समय लगता है। जब कोई जन-समूह दीर्घ काल तक एकत्र रहता है, तब समान परम्परा, समान हित-सम्बंध, समान जीवन-मूल्य, समान जीवन-लक्ष्य, इन सबको लेकर उस जन-समूह का एक समाज के रूप में निर्माण होता है और तब जाकर उस समाज का मन भी बनता है।

चूँकि व्यक्ति के समान समाज के भी शरीर, मन, बुद्धि व आत्मा होते हैं, अतः जिस प्रकार व्यक्ति के समग्र एवं संतुलित विकास के लिये धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों पुरुषार्थों का विचार आवश्यक होता है, उसी प्रकार समष्टि के और राष्ट्र के संदर्भ में भी उनका विचार आवश्यक है।

समाज क्योंकि अनेक व्यक्तियों का समुच्चय होता है, अतः "धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयम्" आदि सामान्य धर्म-लक्षणों और व्यक्ति के पुरुषार्थों से संबंधित विधिनिषेधों का समष्टि धर्म में भी अन्तर्भाव होता ही है। व्यक्ति यदि इन बातों को छोड़ दे, तो उसकी धारणा और उसका विकास नहीं हो सकेगा और व्यक्तियों का ही बना होने के कारण समाज के समष्टिजीवन पर भी उन बातों का परिणाम अवश्य होगा।

समष्टि का धर्म

किन्तु समष्टिधर्म के संबंध में मुख्य विचार "धर्मो धारयति प्रजाः" - इस सूत्र में वर्णित धर्म का ही करना होगा। जिस सहज प्रवृत्ति, संकेतों, विवेकशीलता, नियम-उपनियमों और व्यवस्थाओं के कारण व्यक्ति-व्यक्ति में, व्यक्ति-समूहों में, राष्ट्र-राष्ट्र के बीच आपस में सौमनस्य रहकर उनका जीवन सुचारु रूप से चलता है, उन सब बातों का समष्टिधर्म में अन्तर्भाव होता है। समाज में विविध प्रकार के स्वभावों एवं प्रवृत्तियों के विकास की दृष्टि से अलग-अलग स्तर या भिन्न-भिन्न प्रकार के कार्य करने वाले व्यक्ति और व्यक्तियों के समूह होते हैं। समाज की धारणा करने वाले उन सब में सहयोग व सौमनस्य का होना आवश्यक होता है। यह काम धर्म करता है। धर्म की धारणाशक्ति कितनी प्रचंड होती है, इसका वर्णन महाभारत में अ-राज्य कल्पना को स्पष्ट करते समय इस प्रकार किया गया है।

न राज्यं न राजाऽऽसीत् न दण्डो न च दाण्डिकः।
धर्मेणैव प्रजाः सर्वाः रक्षन्ति स्म परस्परम्॥

धर्म की इस धारणाशक्ति को हम अपने दैनिक जीवन में भी पग-पग पर अनुभव करते हैं। परिवार का ही उदाहरण लीजिए। परिवार में कितनी अलग-अलग प्रकृति और आयु के लोग होते हैं, किन्तु सारे व्यवहार परस्पर सौमनस्य व सहयोग से चलते रहते हैं। इस व्यवस्था की कोई लिखित नियमावली नहीं होती। फिर भी सभी व्यवहार यथा संभव मेलजोल के साथ चलते हैं और परिवार को भी संतोष स्वास्थ्य-लाभ होता है।

परिवार के समान ही समष्टि-जीवन में भी अनेक काम ऐसे होते हैं जिन्हें अकेला मनुष्य कर ही नहीं सकता। अनेक लोगों को मिलकर ही उन्हें करना होता है। उदाहरण के लिये विदेशी आक्रमण से स्वदेश की रक्षा करना। यह काम कोई अकेला व्यक्ति-चाहे वह कितना भी बड़ा क्यों न हो-कर नहीं सकता। युद्ध का संचालन करने वाले सेनाधिकारी, लड़ाई के मैदान में प्रत्यक्ष काम करने वाले सैनिक, सत्तारूढ़ शासन, युद्ध-सामग्री का निर्माण करने वाले तंत्रज्ञ एवं कर्मचारी और नाना प्रकार के छोटे-मोटे अनगिनत काम करने वाले लोग आदि. सबका सहयोग इस काम के लिये आवश्यक होता है। राष्ट्र की भौतिक सम्पन्नता को बढ़ाना भी इक्के-दुक्के व्यक्ति का कार्य नहीं, हजारों हाथों और लोगों की उसके लिए आवश्यकता होती है।

जीवन की अपरिहार्य प्राथमिक आवश्यकताओं का विचार करने पर वहाँ भी यही दिखाई देता है कि कोई भी व्यक्ति अपने लिये आवश्यक वस्तुओं का निर्माण स्वयं अकेले नहीं कर सकता। किसान खेतों में अनाज पैदा करता है, किन्तु उसके कपड़ों की आवश्यकता बुनकर पूरा करता है। खेती के लिये और बुनाई के लिये जो उपकरण (औजार) आवश्यक होते हैं, उनके लिये इन दोनों को किसी तीसरे व्यक्ति पर निर्भर रहना पड़ता है। राज, मिस्त्री, बढ़ई आदि मिलकर पाठशाला का भवन बनाते हैं, किन्तु इन सबके बच्चों को शिक्षा और संस्कार देने का काम शिक्षक के नाते कोई तीसरा ही करता है। इस

प्रकार के आपसी लेनदेन व मेलजोल से ही व्यक्ति व समाज की आवश्यकताएँ पूरी होती रहती हैं। वास्तव में हमारा सम्पूर्ण जीवन इसी प्रकार के सहयोग व इसी प्रकार के लेनदेन से चलता रहता है। यह मनुष्य की प्रकृति ही है। मानव-मानव के बीच इस सहयोग की भावना को बढ़ाने तथा उसमें किसी प्रकार की कोई विकृति न पैदा होने देने के लिए कुछ नियम बनाने, कुछ व्यवस्थाएँ खड़ी करने तथा कुछ संस्कार करने की आवश्यकता होती है। समष्टिधर्म में इन सब बातों का समावेश है। संक्षेप में, व्यक्ति और समाज की धारणा करने वाली, मनुष्य को अपनी जीविका चलाने के साधन उपलब्ध करवाने वाली, किन्तु उसके व्यवसाय कर्म के स्वंरूप को केवल पेट भरने का साधन न बनने देते हुए उसे कर्त्तव्य की संज्ञा दिलाने वाली, व्यक्ति को अपनी उन्नति करते हुए समाज की उन्नति के लिए भी सहायक बनाने वाली सारी बातें, नियम, व्यवस्था व संस्कार और उनमें निहित भाव ही समष्टि की धारणा करने वाला धर्म है।

राष्ट्र के बारे में सोचते समय हमने देखा कि कोई भी राष्ट्रीय समाज दो प्रमुख स्नेह-बन्धनों में बँधा होता है। एक तो है उस भूमि के बारे में अनन्य साधारण भक्ति, जिस पर वह समाज रहता आया है। भाषा, रहन-सहन, वेश-भूषा, पन्थ-सम्प्रदाय आदि की विविधता हो, तो भी मातृभूमि के प्रति उत्कट भक्ति उस समाज के घटकों को जोड़ने वाली महत्त्वपूर्ण कड़ी होती है। समाज के घटकों को एक-दूसरे के साथ जोड़ने वाली और भी एक कड़ी होती है। समान इतिहास, समान संस्कृति, समान परम्पराएँ, समान जीवन आदि बातों के रसायन से यह कड़ी बनती है। "धर्मो धारयति प्रजा:" - इस सूत्र में आये 'धर्म' शब्द का राष्ट्र-कल्पना के संदर्भ में इस प्रकार दोहरा आशय है। (तब तो, धर्म पुरुषार्थ की उपासना का इस समष्टि के परिवेश में अर्थ होगा इन दानों कड़ियों को जी-जान से संजोये रखना, उनके बारे में किसी प्रकार का कुछ भी समझौता न करना, उसमें थोड़ी सी भी शिथिलता न आने देना तथा उसके लिये बाधक होने वाली जो-जो बातें अस्तित्व में हों या होने जा रही हों, उनको जड़मूल से नष्ट करना और पोषक रहने वाली हर

बात का आस्थापूर्वक संवर्धन करना।) हमारे राष्ट्र-जीवन के परिप्रेक्ष्य में इस पुरुषार्थ के स्वरूप एवं दिशा को 'अखंड भारत', 'हिन्दू राष्ट्र' जैसे शब्दों द्वारा व्यक्त किया जा सकता है। इन शब्दों से व्यक्त होने वाली भावनाओं को केवल व्यवहार में ही नहीं, अपितु सिद्धान्ततः भी कहीं धक्का लगता हो तो उतनी मात्रा में समष्टिधर्म की भी क्षति होगी। विषय को स्पष्ट करने की दृष्टि से हमारे संविधान का उदाहरण ही देखने में योग्य है। हमारे संविधान में पहली ही धारा कहती है कि 'इंडिया' अर्थात् 'भारत' राज्यों का एक संघ होगा। इसका अर्थ यह हुआ कि भारत भिन्न-भिन्न स्वतंत्र राज्यों को एकत्रित कर बनाया हुआ एक संघ है। वस्तुतः सम्पूर्ण भारतवर्ष एक है, एकात्म है, और केवल राज्य-प्रशासन की सुविधा के लिए उसके छोटे-छोटे राज्य बनाये गये हैं। एकात्मता की यह भावना हजारों वर्षों से हमारे समाज ने सँजोकर रखी है। विगत काल में विदेशियों के अनेक आक्रमण व बाह्य जीवन की स्थितियों में विविध प्रकार के अन्तर आने पर भी यह आंतरिक एकात्मता बनी रही है। किन्तु हमारे संविधान-निर्माताओं ने इसी एकात्मता की उपेक्षा कर भारत को एक संघ-राज्य बना डाला। भारत को राज्यों का संघ बनाने वाली इस कल्पना की रूपाकृति 'सोशल काण्ट्रैक्ट थ्योरी' से मिलती है, जिसमें कहा गया है कि व्यक्तियों ने एकत्रित होकर समाज का निर्माण किया। हमने ऊपर पर्याप्त विस्तार से निवेदन किया है समाज के निर्माण के बारे में 'सोशल काण्ट्रैक्ट थ्योरी' कैसे गलत है और उस गलत धारणा के कारण संकटों की घटाएँ किस प्रकार हमारे ऊपर आ सकती हैं। संघराज्य की कल्पना से स्पर्धा एवं संघर्ष के विषैले फलों की उत्पत्ति होना असंभव नहीं। शासन-संस्था राष्ट्र-जीवन की अनेक संस्थाओं में से एक है। भारत संघ-राज्य होगा, यह बात भी मूलतः राज्य-व्यवस्था के संदर्भ में है, राष्ट्र के संदर्भ में नहीं; ऐसा युक्तिवाद इस पर किया जा सकता है। सैद्धान्तिक दृष्टि से शायद वह ठीक भी होगा, किन्तु प्रत्यक्ष व्यवहार में आज शासन-संस्था इतनी प्रभावशाली और सर्वव्यापी हो गयी है कि संघ-राज्य की कल्पना के कारण यहाँ का एकात्म राष्ट्र-जीवन चरमराये बिना नहीं रहेगा। आज विभिन्न राज्यों द्वारा स्वायत्तता की बढ़ती

माँग उठायी जा रही है। उस के लिये कभी-कभार आंदोलन भी चल पड़ते हैं। कभी-कभी तो इन आंदोलनों को 'केन्द्र विरुद्ध राज्य' संघर्ष का रूप भी प्राप्त होने लगा है।

यद्यपि संविधान के निर्माताओं ने संविधान का भवन संघराज्य की नींव पर खड़ा किया है, इसमें निहित संकट को पहचानने वाले समाज के धुरंधर नेता समष्टि-धर्म एवं एकात्म राष्ट्र-जीवन को बाधा पहुँचाने वाली ऐसी बातों को आमूल-चूल उखाड़ फेंकने के लिये अग्रसर होते हैं, और समाज भी उनकी पुकार को सुनता है तथा प्रतिसाद भी देता है। 'एक देश में दो विधान, दो निशान, दो प्रधान, नहीं चलेंगे।' यह नारा लेकर जम्मू-कश्मीर राज्य को संविधान की धारा 370 में प्राप्त विशेष श्रेणी निरस्त कराने के लिये किया गया आंदोलन और डॉ. श्यामाप्रसाद मुखर्जी द्वारा इस आंदोलन में दी गयी आत्माहुति इसके साक्षी हैं। अखंड भारत हमारे सम्पूर्ण जीवन का मूल आधार है। भारत और पाकिस्तान की पृथकता नष्ट कर उन्हें फिर से एक किया जायेगा, यह भूतपूर्व जनसंघ द्वारा अपने समक्ष रखा ध्येय, दादरा नगर हवेली का मुक्ति-संग्राम, भावनगर-सत्याग्रह, गोवा-मुक्ति आंदोलन, कच्छ करार विरोधी ऐतिहासिक आन्दोलन और 'असम बचाओ' का प्रदीर्घ संघर्ष आदि घटनाएँ यही दर्शाती हैं कि इस देश का समष्टिधर्म अभी भी स्वस्थ और सुस्थिर बना हुआ है।

समष्टिधर्म की रक्षा, पालन और संवर्धन केवल आपत्ति के प्रसंग में या मातृभूमि के स्वतंत्रता-संग्राम के अवसर पर ही करना होता है, ऐसी बात नहीं। इस धर्म का उपासन एवं संवर्धन सबको सदैव और सभी अंगों से करना होता है। रामायण, महाभारत जैसे ग्रंथों का पठन और मनन, अवतारों एवं महापुरुषों की जयन्तियों और पुण्यतिथियों के उत्सव, संक्रांति, विजयादशमी, दीपावली, होली, रक्षा-बंधन जैसे सामूहिक एवं सांस्कृतिक त्यौहार, देश की चारों दिशाओं में स्थित तीर्थ स्थानों की यात्रा को दिया गया विशेष महत्त्व, ज्ञान-प्रसार के लिये कीर्तन-प्रवचन करने वाली संस्थाएँ, आदि कई मार्गों से समष्टि-धर्म की रक्षा एवं संवर्धन का प्रबंध भारतीय संस्कृति में किया गया है।

समाज को एक सूत्र में बाँधने वाली व्यवस्थाएँ जब ढह जाती हैं, शिथिल पड़ जाती हैं, तब समाज को एक सूत्र में बनाये रखने के लिए काल के अनुरूप नयी व्यवस्था का निर्माण करना समाज-धारणा की दृष्टि से अपरिहार्य हो जाता है। समाज की आत्मा सुदृढ़ हो, तो ऐसी व्यवस्थाएँ खड़ी करने वाले महापुरुष समाज में समय-समय पर उत्पन्न होते हैं। हमारे देश में तो धर्म के सनातन सूत्र को न छोड़ते हुए काल के अनुरूप नयी व्यवस्थाएँ खड़ी करने वाले महापुरुषों की एक लम्बी परम्परा चली आयी है। समाज की धारणा करने वाले भावसूत्र जब शिथिल पड़ जाते हैं, जब धर्म की ग्लानि हो जाती है, तब राष्ट्र की चिति या विशुद्ध चैतन्य शक्ति से प्रेरित युगपुरुष अवतीर्ण होते हैं और उस चिति के प्रकाश में धर्म के उन सूत्रों को सुदृढ़ करते हैं। उन महापुरुषों के शब्दों को महत्ता प्राप्त होती है। "वन्देमातरम्", "स्वराज्य मेरा जन्म सिद्ध अधिकार है" या "वयं हिन्दु राष्ट्रांगभूता:" जैसे वचन, यों देखा जाये तो, आज के युग में धर्म-वचन ही हैं। हमारा राष्ट्र इस समष्टि- धर्म की व्यापक नींव पर खड़ा होकर अपने मार्ग पर अग्रसर हो, तभी वह अर्थ और काम पुरुषार्थ की सम्यक् उपासना कर अपना नियत जागतिक कार्य समर्थ ढंग से और सुचारु रूप से पूरा कर सकेगा।

समष्टि का अर्थ

व्यक्ति की भाँति समाज के लिये अर्थ-पुरुषार्थ की आवश्यकता होती है। पर्याप्त मात्रा में अर्थ का उत्पादन न हो तो समाज का योगक्षेम सुचारु ढंग से नहीं चलेगा।

अर्थ के अभाव एवं प्रभाव के कारण व्यक्ति-धर्म को कैसे ग्रहण लग जाता है, इसका विवेचन हम कर चुके हैं। अर्थ का अभाव या प्रभाव जब समष्टिगत होता है तब समष्टि के सामने भी अनेक समस्याएँ खड़ी हो जाती हैं। आर्थिक दृष्टि से अभाव-पीड़ित देशों को अपनी रक्षा एवं अन्नवस्त्र जैसी मूलभूत आवश्यकताओं के लिये भी दूसरे देशों की कृपा पर निर्भर होना पड़ता है। इस प्रकार पराधीन बने देश को धन देने वाले देशों की हर बात को आँख मूँद कर स्वीकारना पड़ता है। किसी भी जागतिक प्रश्न पर निष्पक्षता एवं साहस के साथ

केवल सत्य कहने का मनो धैर्य ऐसे देशों के पास नहीं रहता। उस सत्य का प्रतिपादन कर उसे प्रस्थापित करना और अन्य लोगों से उसे मनवा लेना तो बहुत दूर की बातें हैं।

अर्थ के अभाव की भाँति अर्थ का प्रभाव भी समष्टिगत हो जाये, तब भी नाना प्रकार की समस्याएँ खड़ी होती हैं। अर्थ का प्रभाव होने का अभिप्राय केवल धन की विपुलता ही नहीं है। जब केवल पैसा ही व्यक्ति की सामाजिक प्रतिष्ठा का मापदण्ड बन बैठता है, तब वह बात अर्थ के प्रभाव के निर्माण का लक्षण मानी जाती है। उस स्थिति में 'सर्वेगुणाः कांचनमाश्रयन्ते' वाली उक्ति अनुभव की जाने लगती है। मान-सम्मान, अधिकार के पद, सामाजिक प्रतिष्ठा आदि बातें गुणसम्पन्न या सुपात्र व्यक्तियों को प्राप्त न होकर, जिनके पास विपुल धन है उन्हें प्राप्त होने लगती हैं। ऐसा होने पर अधिकांश लोग पैसे के पीछे पड़ जाते हैं। भला-बुरा, सच-झूठ, पाप-पुण्य आदि के बारे में विवेक नष्ट हो जाता है। चाहे जिस मार्ग से पैसा अर्जित करें, उस पैसे के बल पर सामाजिक जीवन में अधिकाधिक अधिकार, प्रतिष्ठा एवं आर्थिक लाभ के पद अपनी मुट्ठी में कर लें, रंग-रेलियों में डूब जायें, अपनी उस स्थिति एवं अधिकार का लाभ उठाकर भाई-भतीजों और अपनी आने वाली कई पीढ़ियों तक के लिये विपुल सम्पत्ति गाँठ बाँधे, यह दुष्टचक्र इसी प्रकार निर्मित होता है।

ऐसे सामाजिक जीवन में धीरे-धीरे, कोई भी वस्तु या व्यक्ति पैसे के बल पर खरीदे जा सकते हैं, यह भावना एवं प्रवृत्ति बल पकड़ने लगती है और समाज में गहरे पैठ जाती है। बुद्धिमानों की बुद्धि भी स्वतंत्र न रहकर सत्ता, सम्पत्ति, एवं उपभोग की चेरी बन बैठती है। विद्वान, विधायक, सांसद, सरकारी कर्मचारी, न्यायमूर्ति, मंत्री और मंत्रिपरिषद् भी फिर सौदेबाजी की वस्तु बन जाते हैं। पुराने समय में एक कविता में विद्या का महत्त्व बखान करते समय कहा गया था - "विद्या से असाध्य हो, ऐसी कोई वस्तु नहीं है।" समाज में जब अर्थ का अत्यधिक प्रभाव हो जाता है तब इस कविता में विद्या का स्थान अर्थ ले लेता है।

पुरुषार्थ का व्यक्ति के परिवेश में विचार करते समय हमने देखा है कि चतुर्विध पुरुषार्थों में अर्थ यद्यपि एक महत्त्व का पुरुषार्थ है, तो भी अर्थोपार्जन व्यक्ति-जीवन का साध्य नहीं, केवल एक साधन है। साध्य-साधन का यह विवेक नष्ट हो गया, तो व्यक्ति का अधःपतन हो जाता है। समष्टि के बारे में भी यह सत्य है। समाज का समाज के नाते और व्यक्ति का उस समाज के घटक के नाते शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक विकास समष्टि के अर्थ पुरुषार्थ की साधना ऐसी हो कि समाज के घटकों की व्यक्तिगत एवं सामूहिक नैतिक सम्पदा, कर्तव्य-भावना एवं कर्तृत्व का परस्पर सौमनस्य के साथ विकास हो। अन्य शब्दों में कहा जा सकता है कि समाज की आर्थिक प्रगति के सभी घटकों के कर्तव्य तथा प्रामाणिक परिश्रम से साध्य होनी चाहिए।

आज के युग में आर्थिक नियोजन का समाज के आर्थिक विकास अर्थ पुरुषार्थ के साथ घनिष्ठ संबंध है। इसीलिये समाज के अर्थ पुरुषार्थ का सच्चे अर्थ में विकास करना हो, तो हर सक्षम व्यक्ति को अपना निर्वाह करने योग्य काम मिले ऐसा ही नियोजन करना होगा। इस बात पर दीनदयाल जी बहुत बल देते थे। ऐसा करने से ही व्यक्ति का विकास होता है, देश की आर्थिक समृद्धि में वृद्धि होती है और समाज की सामूहिक कर्तृत्व-शक्ति भी बढ़ती है।

दीनदयाल जी ने कहा है - "यह बात निर्विवाद है कि समाज के प्रत्येक व्यक्ति को अपने जीवन-विकास के लिये कुछ न्यूनतम बातों की गारंटी मिलनी चाहिए। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि यह न्यूनतम सबके लिये लायें कहाँ से? इसका स्पष्ट उत्तर यह है कि प्रत्येक सक्षम व्यक्ति को स्वयं का अपने प्रयत्नों एवं पुरुषार्थ से निर्माण करना होगा। पुरुषार्थहीन अर्थात् उत्पादक कर्म न करने वाला सक्षम व्यक्ति समाज पर केवल बोझ होता है। जिस समाज-व्यवस्था या अर्थ-व्यवस्था में व्यक्ति की न्यूनतम आवश्यकता तो पूर्ण हो जाती है, किन्तु उसके पुरुषार्थ के लिये कोई अवसर नहीं होता, उस व्यवस्था में व्यक्ति का विकास एकांगी ही रहेगा। मनुष्य को भगवान ने पेट और हाथ दोनों दिये हैं। हाथों के लिये काम न हो तो पेट को अन्न प्राप्त होने

पर भी व्यक्ति सुखी नहीं होगा। निस्सन्तान स्त्री को जिस प्रकार अपने जीवन की अपूर्णता व्यथित करती रहती है, उसी प्रकार बेकार या पुरुषार्थहीन व्यक्ति भी अपूर्ण रहेगा।" (एकात्म मानववाद, पृष्ठ 65)

Mass Production (थोक में उत्पादन) नहीं, उसके स्थान पर Production by Masses (बहुजन के द्वारा उत्पादन) होना चाहिए। इस बारे में पंडित जी का (और महात्मा गाँधी का भी) जो विशेष आग्रह था उसमें सम्पूर्ण समष्टि के अर्थ पुरुषार्थ को जाग्रत करने की ही भावना थी। मुट्ठी भर व्यक्तियों के या एकाध विशिष्ट वर्ग के कृतित्व से या अति आधुनिक यंत्र-सामग्री की सहायता से होने वाली देश की आर्थिक समृद्धि समष्टि के अर्थ पुरुषार्थ की सिद्धि नहीं कही जा सकती।

किन्तु हमारे देश में स्वराज्य के बाद अनेक पंचवर्षीय योजनाएँ पूरी होने के बाद भी बेकारों की संख्या कम होने के स्थान पर उत्तरोत्तर बढ़ती ही जा रही है। इसके उपचार के रूप में कुछ राज्यों में बेकारी भत्ता योजना सामने आयी है। उसको पर्याप्त सराहा जा रहा है। हर व्यक्ति को जीवन-निर्वाह योग्य काम अवश्य मिले, इसकी गारंटी देने वाला आर्थिक नियोजन करने के बदले बेकारी भत्ते का प्रबंध करने का अर्थ है समाज के अर्थ पुरुषार्थ को जाग्रत करना छोड़कर उसे बैठे-बैठाये पर -निर्भर और पुरुषार्थविहीन बनाना।

चतुर्विध पुरुषार्थों का विवेचन करते समय अर्थ पुरुषार्थ की उपासना धर्म के अनुसार ही करनी चाहिए, ऐसा परहेज व्यक्ति-जीवन के बारे में कहा गया है। समष्टि के संदर्भ में भी यही परहेज अत्यावश्यक है। दुर्भाग्य से हमारे यहाँ यह विवेक भी छूट गया दिखाई देता है। उदाहरण के लिये विदेशी मुद्रा की प्राप्ति की लालसा हम पर ऐसी सवार हो गयी है कि उसके लिये गाय की आँतों से लेकर मेंढक की टांगों तक जो कुछ भी हाथ लगा उसे निर्यात करना प्रारंभ कर दिया। इस संबंध में कुछ भी विधिनिषेध नहीं रहा। आबकारी करों की आय हाथ से चली जायेगी, इसीलिये हम शराबबंदी करने के लिये तैयार नहीं। समाज का चौमुखी विकास करना कल्याणकारी शासन का कर्तव्य माना जाता है, किन्तु एक ओर शराब बनाने के कारखानों को उदारतापूर्वक

अनुज्ञा-पत्र (लायसेन्स) देकर लाखों परिवारों की गृहस्थी को उजाड़ा जाता है, दूसरी ओर उसी शराब से चलने वाले आबकारी करों की आय से समाज-कल्याण की योजनाएँ बनायी जाती हैं। इस नीति को कल्याणकारी नीति कैसे कहा जा सकता है? पुरुषार्थ करके धन अर्जित करने की शिक्षा देने के स्थान पर साप्ताहिक एवं दैनिक लॉटरी चालू कर एक ही रात में लखपति बनने का लालच लोगों के सामने रखने वाले शासन को समष्टि के अर्थ पुरुषार्थ का संवर्धन करने वाला शासन कैसे कहा जा सकता है? 'भारतीय अर्थनीति विकास की एक दिशा' नामक अपनी पुस्तक में पंडित दीनदयाल जी ने आरंभ में ही हमारे देश की इस अव्यवस्था का जो विवेचन किया है, वह मनन करने योग्य है। वे कहते हैं –

"स्वराज्य से पहले हम हर प्रश्न को राजनीतिक दृष्टिकोण से देखा करते थे। अब प्रत्येक प्रश्न को हम केवल आर्थिक दृष्टिकोण से देखने लगे हैं। देश का आर्थिक विकास ही हमारा एकमेव लक्ष्य बन बैठा है। मानव-जीवन की वास्तविकता, उसका उद्देश्य एवं हेतु, उस जीवन के उच्चतम आदर्श जैसी अत्यन्त महत्त्व की बातों के बारे में एक एकांगी एवं विकृत दृष्टिकोण सर्वत्र प्रसारित किया जा रहा है। साध्य एवं साधन का विवेक समाप्त हो रहा है। अर्थोत्पादन जीवन की एक अत्यावश्यक बात न रहकर जीवन ही बन बैठा है। मानव-जीवन का लक्ष्य और उस जीवन में अर्थ का क्या स्थान है, इसके बारे में निश्चित कल्पनाएँ समक्ष न होने के कारण ऐसा मार्ग ही हम निश्चित नहीं कर सकते हैं जिस पर चल कर पैसा और समृद्धि दोनों का धर्म के अनूकूल उपभोग करते बने। मंदिर के बाहरी आकार-प्रकार का सब प्रकार से विचार करते समय भी हम यदि इस सत्य को भुला देते हैं कि मंदिर को उसमें प्रतिष्ठापित मूर्ति के कारण ही मंदिर कहते हैं, तो हमारे सारे प्रयत्न व्यर्थ सिद्ध होंगे।" (भारतीय अर्थनीति)

समष्टि के अर्थपुरुषार्थ में अर्थशक्ति के साथ ही दंडशक्ति का अर्थात् शासन व्यवस्था का भी समावेश होता है। अर्थशक्ति की भाँति दंडशक्ति का भी अभाव या प्रभाव समष्टि-धर्म के लिये हानिकर हो

सकता है। शासन क्षीणदंड (ढीला) हो, अकार्यक्षम हो, सत्-प्रवृत्तियों को संरक्षण देने में तथा असत् प्रवृत्तियों का दमन करने में असमर्थ हो, तो समाज का स्वास्थ्य एवं संतुलन समाप्त होकर नाना विपदाएँ उस पर आ पड़ेंगीं। ऐसी स्थिति में कर्तव्यरूप धर्मशासन के स्थान पर डंडाशाही का "अनुशासन पर्व" प्रारंभ हो जाता है। दंडशक्ति का यह प्रभाव समाज-जीवन के लिये निश्चित ही हानिकर सिद्ध होता है।

वस्तुत: शासन अथवा राज्य राष्ट्र की रक्षा के लिये होता है। राष्ट्र की आत्मा होती है चिति। इस चिति की अभिव्यक्ति और व्यवहार के नियम ही राष्ट्रधर्म कहलाते हैं। इस राष्ट्रधर्म के मार्ग के सभी रोड़ों को दूर करना और चिति की अभिव्यक्ति के मार्ग को सुगम बनाना शासन के कर्तव्य होते हैं। इस राष्ट्रधर्म का दक्षता के साथ पालन करना तथा उसकी मर्यादाओं का उल्लंघन न करना भी शासन को कुछ अधिकार देता है। समाज द्वारा दिये गये इन अधिकारों का उपयोग केवल कर्तव्य-भावना से तथा विवेकपूर्वक करना शासन का काम होता है।

किन्तु कई बार शासकों को इस कर्तव्य-भावना का विस्मरण हो जाता है। चतुर्विध पुरुषार्थों की परिभाषा में कहा जाये तो अर्थ पुरुषार्थ का धर्म के साथ नाता टूट जाता है, और फिर स्वाभाविक रूप से सत्ताधारियों का नैतिक अध:पतन प्रारंभ हो जाता है। भ्रष्टाचार के माध्यम से प्रतिष्ठान बनाये जाते हैं। सत्ता समाज-सेवा का साधन न रहकर अधिकाधिक सत्ता तथा अधिकाधिक शक्ति-केन्द्रों पर अधिकार करने का साधन बन जाती है- केवल इन्हीं कामों के लिए उनका उपयोग होने लग जाता है। यह सब दंडशक्ति के प्रभाव के लक्षण हैं। ऊँचे पद पर बैठने वालों का आचरण ऐसा होने लगा, तो फिर 'यथा राजा तथा प्रजा' के न्याय से निम्न श्रेणी के शासकीय कर्मचारी भी उसी पथ पर चल पड़ते हैं।

आर्य चाणक्य ने दंडशक्ति के इस अभाव-प्रभाव के बारे में लिखा है-

"दंडशक्ति का कतई उपयोग न करने से मत्स्यन्याय प्रारंभ हो जाता है। इसके विपरीत, सदैव दंडशक्ति का उपयोग किया जाये तो प्रजा

त्राहि-त्राहि करती है। दंडशक्ति का यथोचित उपयोग किया जाये तो प्रजा धर्म, अर्थ एवं काम तीनों पुरुषार्थों की उपासना करती है। इसके विपरीत किसी भी प्रकार का विवेक न बरतकर अज्ञानवश अथवा काम, क्रोध का शिकार होकर दंडशक्ति का उपयोग किया गया तो वानप्रस्थी एवं संन्यासी भी चिढ़ उठेंगे, फिर गृहस्थाश्रमी संतप्त हो जायें तो क्या आश्चर्य!"

(कौटिलीय अर्थशास्त्र-अधिकरण एक, भाग चार)

धर्म के अधिष्ठान पर जाग्रत निग्रहानुग्रहक्षम एवं संगठित समाज-जीवन खड़ा करना ही दंडशक्ति के अभाव-प्रभाव के दुष्परिणामों से मुक्त रहने का श्रेयस्कर मार्ग है।

समष्टि का काम

धर्म और अर्थ पुरुषार्थ की भाँति काम पुरुषार्थ का भी समष्टि की दृष्टि से बहुत महत्त्व है। समाज की उन्नति-अवनति का निर्णायक उत्तर अन्त में समष्टि के मनोबल पर ही निर्भर रहता है। समाजमानस जीवन्त हो, तो सर्वथा प्रतिकूल परिस्थिति को भी वह मात दे सकता है और भस्म में से नया जीवन खड़ा कर सकता है। अपने जन्म के बाद मरुस्थल को नन्दनवन कर दिखाने वाला छोटा सा इस्राइल, दूसरे विश्वयुद्ध के समय का इंग्लैंड, युद्धोत्तर काल में जापान व जर्मनी, ये सब समष्टि के काम पुरुषार्थ के कुछ उदाहरण हैं। स्वतंत्रता-प्राप्ति के लिये हम लोगों ने ब्रिटिश शासन के विरोध में विविध मार्गों से जो सफल संघर्ष किया या चीन और पाकिस्तान के आक्रमणों के समय आपसी छोटे-मोटे मतभेदों को भुलाकर समरभूमि में शत्रु के साथ युद्ध करने वाले सैनिकों के पीछे जीवट के साथ खड़े रहे, यह भारतीय जनता की समष्टि के कामपुरुषार्थ का ही उदाहरण है। समाज की इस सामूहिक आकाँक्षा को जाग्रत रखना और फूल की भाँति खिलाना समाजनेताओं का कर्तव्य होता है। "यह राज्य हो यह तो श्री की इच्छा है", या "स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है और हम इसे लेकर ही रहेंगे", ऐसे वचनों ने तत्कालीन समाज-मानस पर जादू का सा प्रभाव किया था, इतिहास इसका साक्षी है।

पंडित दीनदयाल जी ने एक संवाददाता सम्मेलन में प्रश्नों के जो उत्तर दिये थे वे इस परिप्रेक्ष्य में उद्धृत करने योग्य हैं। संवाददाता ने दीनदयाल जी से प्रश्न किया कि "देश की दशा सुधारने के लिये क्या उसके सभी नागरिक प्रयत्न की पराकाष्ठा कर रहे हैं या इस दृष्टि से सर्वत्र आमतौर पर शिथिलता है? आपका क्या विचार है?" दीनदयाल जी ने उत्तर दिया - "लोगों के सामने कोई उच्च राष्ट्रीय लक्ष्य हो, तो वे जितना चाहे, परिश्रम करने के लिए तैयार होंगे।" इस पर उस संवाददाता ने फिर प्रश्न किया - "ऐसे लक्ष्य क्या हो सकते हैं? " दीनदयाल जी ने तुरन्त उत्तर दिया - "भारत को पुनः अखंडित करना एक लक्ष्य हो सकता है। चीन द्वारा हड़प ली गयी हमारी भूमि से चीनियों को निकाल बाहर करना भी एक और लक्ष्य हो सकता है।" समाजमानस में प्रचण्ड राष्ट्रीय महत्त्वाकाँक्षा भर देने वाले ये उद्‌गार हैं। इनकी तुलना में, शत्रु द्वारा हमारे प्रदेश पर सैनिक आक्रमण किये जाने पर "लद्दाख एक वीरान प्रदेश है, वहाँ घास का एक तिनका भी नहीं उगता है।" ये देश के भूतपूर्व प्रधानमंत्री के उद्‌गार देखिए। दोनों में कितना अन्तर है, स्वयं ध्यान में आ जायेगा और उसके परिणाम तो इतिहास में अंकित हैं ही।

यह सच है कि समाज की स्वतंत्रता और उसका संगठित, स्वावलम्बी, समर्थ और स्वस्थ जीवन, समाज के सामूहिक कामपुरुषार्थ पर ही निर्भर होता है। किन्तु इस महत्त्वपूर्ण कामपुरुषार्थ को भी धर्म का, व्यापक मानव धर्म का-अधिष्ठान प्राप्त न हो तो इस पुरुषार्थ के राक्षसी महत्त्वाकाँक्षा में परिणत होने की संभावना रहती है। भगवद्‌गीता में वर्णित आसुरी सम्पदा -

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्।।
असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी।।

(गीता अध्याय 16, श्लोक 13-14)

को तब अनुभव किया जाने लगता है। समष्टि के ऐसे धर्मविहीन

कामपुरुषार्थ को दुर्भाग्य से धर्मविहीन अर्थ पुरुषार्थ का साथ मिल गया, तो "पहलेहि बौरी वानरी ता पुनि बीछीमार" जैसी अवस्था उस समाज की हो जायेगी और उसकी उन्मत्त मर्कट-लीलाओं से सारा मानव-समाज त्रस्त हो जायेगा। इसके विपरीत इन समष्टिगत पुरुषार्थों को धर्म का आधार मिले तो ये ही पुरुषार्थ सारे विश्व को स्वर्ग बना सकते हैं। एक ओर एक हाथ में तलवार और दूसरे में पैट्रो-डालर लेकर सारे विश्व के नक्शे पर हरा रंग पोतने के लिये अग्रसर इस्लामी पुनरुज्जीवनवाद, वर्गविहीन समाज-रचना खड़ी करने के लुभावने नारे की आड़ में स्वतंत्र देशों में अपनी बख्तरबंद गाड़ियाँ घुसाने वाले रूस और चीन का लाल साम्राज्यवाद या "विकास के लिये आर्थिक सहायता" के नाम पर अग्रसर होते अमेरिका जैसे धनाढ्य देश का आर्थिक साम्राज्यवाद और दूसरी ओर भू-भाग नहीं शत-शत मानव के हृदय जीतने का मेरा निश्चय" की दुहाई देते हुए "कृण्वन्तो विश्वमार्यम्" की विशुद्ध भावना से कार्यरत हुआ हिन्दू संस्कृति का विश्वसंचार, दोनों चित्र आँखों के सम्मुख लायें तो धर्मविहीन समष्टिगत काम पुरुषार्थ और धर्माधिष्ठित कामपुरुषार्थ में क्या अन्तर है, यह स्वयं स्पष्ट हो जायेगा। एकात्म मानव दर्शन में आग्रहपूर्वक यह प्रतिपादन किया गया है कि व्यक्तिगत अर्थ-काम पुरुषार्थों की भाँति ही समष्टिगत अर्थ-काम पुरुषार्थों को भी धर्म का सुदृढ़ अधिष्ठान अवश्य प्राप्त होना चाहिए। इसका रहस्य भी यही है।

समष्टि का मोक्ष

समाज के धर्म, अर्थ और काम होते हैं, तो क्या समाज का मोक्ष भी होता है? जी हाँ! प्रत्येक राष्ट्र की अपनी आत्मा होती है और उसे ही चिति कहते हैं, इसका उल्लेख इसके पहले आ चुका है। सर्वव्यापी परमात्म तत्त्व का साक्षात्कार प्राप्त करने का सर्वोच्च लक्ष्य व्यक्ति के समक्ष होता है, उसी प्रकार चिति का साक्षात्कार एवं अभिव्यक्ति राष्ट्र का स्वाभाविक लक्ष्य होता है, होना भी चाहिए। हमारे दैशिक शास्त्र के अनुसार "प्रत्येक जाति (राष्ट्र) भगवती प्रकृति के किसी न किसी विशिष्ट कार्य के लिए ही पैदा होती है।" (दैशिक शास्त्र पृष्ठ 16)

इसका स्पष्टीकरण करते हुए पंडित दीनदयाल जी ने कहा है - "प्रत्येक राष्ट्र उस परम सत्ता द्वारा नियत किये जीवनकार्य को लेकर ही जन्म लेता है। इस कार्य की पूर्ति के लिए अपनी सारी शक्ति लगाकर प्रयत्न करना ही उस राष्ट्र के विकास की सर्वोत्तम एवं एकमेव साधना है।" (राष्ट्र-चिन्तन 132-133)

आत्मा की इस अभिव्यक्ति के लिये स्वराज्य अर्थात् परतंत्रता से मुक्ति पहली आवश्यकता होती है। स्वराज्य के बिना राष्ट्र अपनी आत्मा की तथा जीवनकार्य की न तो अभिव्यक्ति कर सकेगा और न उन्नति ही कर सकेगा। राष्ट्र के जीवन में स्वराज्य एक ऐसा साधन एवं सामाजिक आवश्यकता है, जिसके बल पर वह अपने ध्येय के लिये अप्रतिहत रूप से एवं विवेक के साथ आगे बढ़ सकता है। अर्थात् स्वतंत्रता केवल राजनीतिक नहीं, अपितु आर्थिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से भी 'स्व' राज्यमयी होनी चाहिए।

किसी भी समष्टि का मोक्ष पुरुषार्थ अर्थात् उसके अपने जीवनकार्य का स्वरूप उसकी चिति के आधार पर निश्चित होता है। समष्टि के इस मोक्ष पुरुषार्थ की सिद्धि समष्टि के घटक व्यक्ति के माध्यम से ही संभव है, अतः समष्टि का मोक्ष पुरुषार्थ भी स्वाभाविक रूप से व्यक्ति के चतुर्विध पुरुषार्थों से जुड़ा हुआ होता है। आत्मसुख का विचार करते समय हमने देखा कि आत्मा-अनात्मा के संबंध में सामान्य जन की कल्पना प्रायः एकांगी, अधूरी या कभी-कभी विकृत भी होती है। मोक्ष के बारे में भी स्थिति कुछ ऐसी ही है। सामान्य धारणा होती है कि मोक्ष केवल व्यक्तिगत विषय है, और उसका मार्ग सांसारिकता से मुख मोड़कर किसी अज्ञात स्थान पर जाकर अन्तर्हृदय में ध्यान लगाये केवल एकान्त में ही वास करना है। मोक्ष के बारे में यह धारणा निश्चय ही एकांगी व गलत है। एकात्म मानवदर्शन में मोक्ष जागतिक जीवन से मुख मोड़ने वाला नहीं है। यह नहीं, व्यक्ति, परिवार, जाति, राष्ट्र के क्रम से समूचे मानव-समूह को आत्मीयता की लपेट में लेकर परमसुख की ओर ले जाने वाला वह क्रियाशील पुरुषार्थ है।

पंडित दीनदयाल जी ने इसका विवेचन करते हुए कहा है -

"मुक्ति कभी व्यक्तिगत नहीं होती, वह समष्टिगत ही होती है। समाज विपन्नावस्था में हो, तब भी उसे उसके हाल पर छोड़कर मैं अकेले मोक्ष प्राप्त कर सकता हूँ, ऐसी गलत धारणा लिये कई लोग चलते हैं। समाज मुक्त होगा, तो उसका स्तर ऊँचा उठेगा, वह उन्नत होगा, तभी व्यक्ति को शांति प्राप्त होगी। इसी के लिये परमात्मा बार-बार अवतार धारण करता है। हमारे यहाँ किसी भी पुराण में आपको ऐसा वर्णन नहीं मिलेगा कि परमात्मा ने अवतार लिया और वह कहीं किसी गुफा में जाकर अपनी मुक्ति के लिये तप करने बैठा।

केवल व्यक्तिगत मोक्ष की आकाँक्षा रखकर कोई योगाभ्यास आदि करे, तब भी उसे मुक्ति नहीं मिलेगी। मुक्ति इतनी छोटी सी बात नहीं जो समाज को वैसा ही रखकर, वैसा ही छोड़कर, एकान्त में ध्यान लगाकर बैठने से प्राप्त हो जायेगी। ऐसे साधक को, हो सकता है, एकाध सिद्धि प्राप्त हो जाये, किन्तु जब तक उस सिद्धि का उपयोग वह अपने चारों ओर फैले समाज-बांधवों को उन्नत करने के लिये नहीं करता, तब तक वह सिद्धि भी व्यर्थ ही है।"

(राष्ट्र-जीवन की दिशा)

हमारे इस प्राचीन हिन्दू राष्ट्र के परिप्रेक्ष्य में इन समष्टिगत काम और मोक्ष पुरुषार्थों का लक्ष्य शब्द बद्ध करना हो तो कहा जा सकता है कि 'यतोऽभ्युदयनिः श्रेयस्सिद्धिः स धर्मः' सूत्र के अधिष्ठान पर खड़े होकर यहाँ चतुर्विध पुरुषार्थों से युक्त, संगठित, समृद्ध व समर्थ हिन्दूराष्ट्र को पुनः खड़ा करना और 'एतद्देशप्रसूतस्य सकाशाद् अग्रजन्मनः। स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः।।' का स्वप्न साकार करते हुए समस्त मानवजाति के संबंध में अपने ईश्वरदत्त कर्तव्य को निभाना ही वह लक्ष्य है। यह लक्ष्य कोई मनमोदक या दिवास्वप्न नहीं, न ही वह समष्टिगत अहंकार है। वास्तव में सारे विश्व को हमारे देश से वही अपेक्षा है। इसीलिये किसी भारतीय विद्वान के नहीं, वरन् कुछ पाश्चात्य विद्वानों के उद्धरण नीचे दिये जा रहे हैं। एक उद्धरण ख्यातनाम इतिहासकार श्री अर्नाल्ड टायनबी का है, दूसरा जर्मन विद्वान फ्रैडरिक मैक्समूलर का।

"इस प्रदीर्घ इतिहास का प्रारंभ यद्यपि पश्चिम से हुआ है, फिर भी मानव जाति को सम्पूर्ण विनाश से बचाना हो तो, उसका अन्त भारत के पास ही करना होगा। मानव जाति के इतिहास-क्रम में अत्यन्त भयावह कालखण्ड आज आ गया है। इस काल में भारतीय जीवनदर्शन ही मुक्ति का एकमात्र मार्ग है। यह जीवनादर्श है सम्राट अशोक और महात्मा गांधी द्वारा दिखाया अहिंसा का मार्ग व स्वामी रामकृष्ण परमहंस द्वारा दिया गया 'सर्वधर्म समन्वय' का संदेश। हम सभी लोग एक विशाल परिवार के सदस्य हैं, यह भावना समूचे मानव-समाज में दृढ़मूल करने के लिये जिस मनोभूमिका एवं मनोवृत्ति की आवश्यकता होती है वह इसी जीवन-आदर्श में है। आज के परमाणु-युग में आत्मनाश से बचने का यही एक विकल्प है।"

(अर्नाल्ड टायनबी - 'भारतीय संस्कृति की अनमोल विरासत' में नानी पालखीवाला द्वारा उद्धृत)

"कोई मुझसे पूछे कि ईश्वर ने मानव-मन को जो अद्भुत शक्तियाँ प्रदान की हैं उनका परिपूर्ण विकास इस धरती पर किसने किया? जीवन की प्रत्येक जटिल समस्याओं का गहरा चिन्तन कर उनमें से अनेक का समाधान किसने खोज निकाला? तो मैं भारत की ओर अंगुलि-निर्देश करूँगा। हम यूरोपवासी प्रमुखतः ग्रीक, रोमन और यहूदियों के सेमेटिक वंश के विचारों पर पले हैं। इस विचार में जो त्रुटियाँ हैं उन्हें दूर कर अपना अन्तर्जीवन अधिक परिपूर्ण, अधिक विशाल, अधिक उदार या अधिक मानवीय हो और केवल इसी जन्म तक सीमित न रहकर एक नया चिरंजीव जीवन हमें प्राप्त हो, इसके लिये बड़ी आशा से हम किसकी ओर देखें, ऐसा प्रश्न यदि कोई मुझसे करे तो उसका उत्तर भी मैं यही दूँगा कि भारत की ओर देखिए।"

('भारतीय संस्कृति की अनमोल विरासत' में फ्रैडरिक मैक्समूलर का उद्धरण, इंडिया : व्हाट कैन इट टीच, पृष्ठ 36-37)

OO

8

एकात्म समाज-व्यवस्था

यहाँ तक हमने समष्टि के चतुर्विध पुरुषार्थों का विचार किया। उससे पहले व्यक्ति के संदर्भ में इन चतुर्विध पुरुषार्थों का स्वरूप क्या है, इसे भी हमने देखा। विवेचन की सुविधा के लिये हमने इसे यद्यपि दो भागों में अलग-अलग प्रस्तुत किया, समाज और व्यक्ति का संबंध टहनी और पत्तों जैसा या शरीर व उसके अवयवों जैसा होने के कारण उनके ये पुरुषार्थ भी परस्पर पूरक होते हैं, होने भी चाहिए। "व्यक्ति और समाज, दोनों को एक दूसरे से जोड़े रखने का कार्य जिसके द्वारा करना होता है उसे ही हमारे यहाँ पुरुषार्थ की संज्ञा दी गयी है।" ऐसा दीनदयाल जी ने पुरुषार्थों का विवेचन करते समय जो कहा है उसका भी आशय यही है।

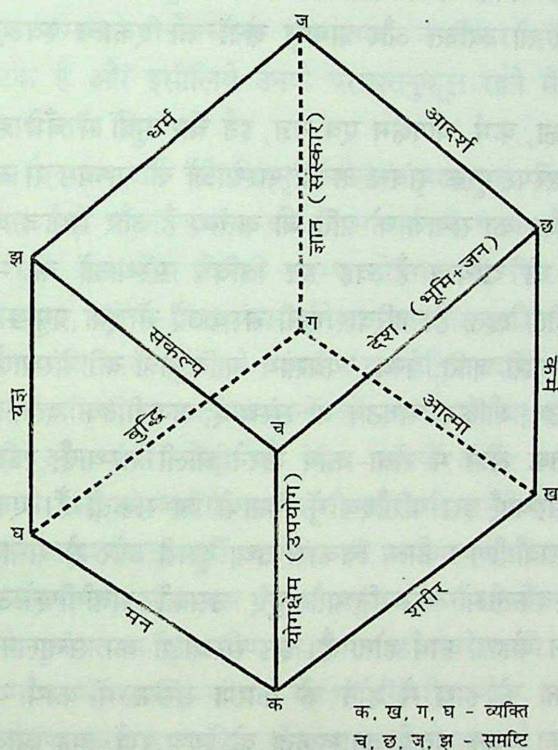
व्यक्ति और समष्टि के पुरुषार्थ के आपसी संबंध के बारे में सूत्ररूप में कहा जा सकता है कि शिक्षा, कर्म, उपभोग एवं यज्ञ, इन चार बातों से व्यक्ति और समाज एक दूसरे से जुड़े होते हैं। समाज की दी हुई शिक्षा तथा संस्कारों के कारण ही मनुष्य 'मनुष्य' बनता है। समाज हमें बोलना, लिखना तथा पढ़ना सिखाता है। हमारी विचार-प्रक्रिया को समाज ही गतिमान बनाता है। माता-पिता, गुरुजनों तथा शिक्षा-संस्थाओं आदि से जो शिक्षा व्यक्ति को मिलती है, उसकी सहायता से ही व्यक्ति अपने आप समाज के लिये कर्म अथवा उद्योग कर सकता है। व्यक्ति

द्वारा किये गये इस कर्म के फल के रूप में समाज व्यक्ति के योगक्षेम की तथा उपभोग की व्यवस्था करता है। इस चतुः सूत्री में चौथा भाग है यज्ञ। यज्ञ का संबंध कर्म तथा उस कर्म में निहित भावना से रहता है। व्यक्ति उद्योग या व्यवसाय के रूप में जो कर्म करता है उसके द्वारा ही वह समाज के साथ जुड़ा होता है। स्थूल दृष्टि से देखने पर लगता है कि मनुष्य केवल अपने लिये ही उद्योग करता रहता है, किन्तु वस्तुतः वह समाज के लिये काम करता है। उदाहरण के लिये किसान खेतों में अनाज पैदा करता है। पैदा किया हुआ अनाज क्या वह स्वयं अकेला ही खाता है? आवश्यकता के लिये पर्याप्त अनाज अपने पास रखकर शेष सारा उचित दाम लेकर वह समाज को दे देता है। समाज ने उसे खेती-बाड़ी की शिक्षा दी। वह उसका मूल्य समाज को अनाज पैदा करके देता है। समाज ने बुनकर को वस्त्र बुनना सिखाया, वह वस्त्र बुनकर समाज की एक आवश्यकता को पूरा करता है। शिक्षक विद्यार्थी अवस्था में परिवार के बड़े सदस्यों, गुरुजनों तथा समाज से संस्कार ग्रहण करता है और आगे जाकर नयी पीढ़ी के अनगिनत विद्यार्थियों को ज्ञान व संस्कार देने का कार्य करता है।

विविध क्षेत्रों में कार्य करने वाले लोगों के ऐसे कर्मों से ही समाज की नाना आवश्यकताएँ पूर्ण होकर समाज की धारणा होती है। शिक्षा, कर्म, योगक्षेम एवं यज्ञ, यह धारणाचक्र इस प्रकार अखंड रूप से चलता रहता है। अर्थात् यह कर्म केवल आवश्यक योगक्षेम या उपभोग की दृष्टि न रखते हुए कर्तव्य-भावना तथा समर्पण-वृत्ति से किया जाये, तभी वह सही अर्थों में यज्ञ बनता है। कर्तव्य-भावना से किये गये ऐसे कर्मयज्ञ के कारण व्यक्ति का योगक्षम तो भली भाँति चलता ही है, साथ ही उसकी नैतिक एवं आध्यात्मिक उन्नति भी होती है। इसके अतिरिक्त वह कर्म भी उत्तम होकर समाज को भी सभी अंगों से पुष्ट एवं उन्नत करता है।

इस प्रकार शिक्षा, कर्म, उपभोग (योगक्षेम) एवं यज्ञ, इन चारों बातों से व्यक्ति एवं समाज आपस में जुड़े होते हैं। एक घन की आकृति के माध्यम से यह संबंध स्पष्ट किया जा सकता है। शिक्षा समाज से

व्यक्ति की ओर, कर्म व्यक्ति से समाज की ओर, उपभोग समाज से व्यक्ति की ओर और यज्ञ व्यक्ति से समाज की ओर, ऐसी यह संरचना है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि व्यक्ति और समाज को जोड़ने वाली चार बातों में से दो का दायित्व समाज पर तथा शेष दो का व्यक्ति पर है।



समाज की ओर से व्यक्ति को सुयोग्य शिक्षा न मिलती हो, शिक्षा प्राप्त होकर भी उसके माध्यम से कर्म (उद्योग-व्यवसाय) उपलब्ध न होता हो, और उद्योग-व्यवसाय प्राप्त होकर भी आवश्यक योगक्षेम समाज से प्राप्त न होता हो, तो समाज कर्तव्यच्युत हो गया है, ऐसा मानना पड़ेगा। इसके अनिष्ट परिणाम व्यक्ति और समाज दोनों को ही भोगने पड़ेंगे। इसके विपरीत, समाज द्वारा शिक्षा एवं संस्कारों का प्रबंध कर कर्म के माध्यम से योगक्षेम की व्यवस्था करने के बाद भी

व्यक्ति अपना व्यवसाय-कर्म निष्ठापूर्वक तथा यज्ञ-भावना से नहीं करता है तो समष्टि-धर्म की ऐसी उपेक्षा के कारण शायद उसकी भौतिक हानि भले ही न हो, नैतिक दृष्टि से वह उसका अध:पतन ही कहलायेगा। परिणामत: समाज की धारणा को भी घुन लग जायेगा। किन्तु समाज एवं व्यक्ति, दोनों अपने-अपने दायित्व को प्रयासपूर्वक एवं कर्तव्य-भावना से निभाते हैं तो व्यक्ति और समाज दोनों का एकात्म स्वरूप साकार होगा।

शिक्षा, कर्म, योगक्षेम एवं यज्ञ, इन चार सूत्रों में बँधे समाज एवं व्यक्ति के परस्पर पूरक संबंध अनेक संस्थाओं के माध्यम से व्यक्त होते रहते हैं। व्यक्ति का समाज के प्रति जो कर्तव्य है और समाज का व्यक्ति के बारे में जो दायित्व है वह इन विविध संस्थाओं के माध्यम से क्रियान्वित होता रहता है। परिवार ऐसी संस्थाओं में एक प्रमुख संस्था है। उसके बाद हमारी जाति, पन्थ, व्यवसाय आदि क्षेत्रों की संस्थाएँ, संगठन, भाषिक संगठन, शैक्षिक संगठन या संस्थाएँ, राजनीतिक दल, सामाजिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्रों में सेवा-कार्य करने वाली संस्थाएँ, शासन संस्था आदि कई संस्थाएँ इस परिप्रेक्ष्य में गिनायी जा सकती हैं। एक ओर से व्यक्ति का सर्वांगीण एकात्म विकास तथा दूसरी ओर से समाज की भी सभी आवश्यकताओं को निभाते हुए उसकी सर्वांगीण उन्नति इन संस्थाओं का दोहरा कार्य होता है। इन संस्थाओं का संचालन किसी न किसी व्यक्ति के हाथ में होने के कारण संस्था में कार्य करने वाले व्यक्ति इसका ध्यान सतत जागरूकता के साथ रखें, यह आवश्यक है। कारण यह है कि एक व्यक्ति की शक्ति की अपेक्षा संस्था की संगठित शक्ति हर अवस्था में अधिक ही होती है। ऐसी स्थिति में समाज-जीवन में उस संस्था का उद्देश्य क्या है तथा समाज-जीवन के साथ उसका नाता क्या है, इसका यदि विस्मरण हो गया तो व्यक्ति-सत्तावाद या समाज-सत्तावाद के समान ही संस्था-सत्तावाद उदित होगा और वह संस्था व्यक्ति और समाज के उत्कर्ष के लिये सहायक होने के स्थान पर उसके विघटन एवं अध:पतन का कारण बन जायेगी। संस्था व्यक्ति और समाज को जोड़ने वाली एक कड़ी है। तीनों का संबंध एकात्म होने के कारण जो

बात समाज के हित में नहीं है वह समाज के व्यक्ति एवं संस्था-संगठनों के हित में नहीं हो सकेगी। राजनीतिक दल, श्रमिक-संगठन,छात्र-संगठन, किसान-संगठन, शैक्षिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्र में काम करने वाले संगठन, सबके उद्देश्यों, नीतियों एवं कार्यों की इष्टानिष्टता की तथा यश-अपयश की यही एकमात्र कसौटी हो सकती है। अन्ततः व्यक्ति, संस्थाएँ एवं समाज, तीनों घटक पृथगात्मक न होकर परस्परावलम्बी एकात्म घटक हैं और इसीलिये उनके परस्परानुकूल रहने में ही उनका सच्चा पुरुषार्थ तथा हित भी है।

इस एकात्म धर्म की विस्मृति होकर पृथगात्मक विचार प्रारम्भ हुआ तो यह टेढ़ी चाल समाज को किस गर्त में पटक देगी, कहना कठिन है। एक बार ऐसा विचार प्रारम्भ हो गया तो फिर वर्ग-संघर्ष (स्पृश्य-अस्पृश्य, दलित-प्रगत, कारखानेदार-कामगार आदि) या एक ही वर्ग के अन्दर विभिन्न गुटों के संघर्ष (राजनीतिक दलों की आपसी होड़, विभिन्न श्रमिक या छात्र संगठनों की आपस में अस्वस्थ स्पर्धा), पुरानी पीढ़ी और नयी पीढ़ी के बीच संघर्ष आदि अनेक संघर्ष अपरिहार्यता से खड़े हो जायेंगे। यह सूची और भी लम्बी हो सकती है, किन्तु उसकी आवश्यकता नहीं, क्योंकि इन सभी स्पर्धाओं तथा आपसी जलन एवं संघर्ष की आँच हम नित्य अनुभव कर रहे हैं।

ऐसे पृथगात्मक दृष्टिकोण के कारण हमारे देश की राजनीति में तथा कुछ मात्रा में समष्टि-जीवन में भी विपरीत मोड़ आ गया है। उसका विश्लेषण करते हुए पंडित दीनदयाल जी ने कहा है - "भारतीय राजनीतिज्ञों की सबसे बड़ी भूल यह है कि वे भारत के भाषिक, धार्मिक, आर्थिक आदि समाज-जीवन के विविध क्षेत्रों में विविध वर्गों का स्वतंत्र अस्तित्व मानकर चलते हैं। इस प्रकार जिनका स्वतंत्र अस्तित्व मान लिया गया है उन विविध वर्गों में एकता एवं सौमनस्य कैसे निर्मित किया जायेगा, इसी दिशा में आज तक इनके सभी प्रयास चल रहे हैं। इन वर्गों का स्वतंत्र अस्तित्व मानकर उनके तुष्टिकरण की नीति पर चलते हुए राजनीतिक क्षेत्रों के लोग उनकी अस्मिता एवं स्वार्थ को जब तक बढ़ावा देते हैं, तब तक राजनीति गलत दिशा में ही चलती

रहेगी। सत्य यह है कि सम्पूर्ण भारत एक है। भारत की सारी जनता एक है और उसे इस एकता को अनुभव करते हुए ही यहाँ रहना है। अनेक अवयवों को जोड़कर शरीर का निर्माण नहीं होता। वास्तव में एक शरीर के अनेक अवयव होते हैं। पहले विचार में अनेकों को वास्तविक मानकर उनमें एकता की कल्पना करने का प्रयास है, तो दूसरे में एक को सत्य मानकर अनेकों को उसी एक के विविध रूपों में स्वीकारने का दृष्टिकोण है।" (राष्ट्र-चिन्तन 11-14)

आश्रम-व्यवस्था

अब तक हमने देखा कि मनुष्य के सुख एवं उस सुख की प्राप्ति के लिये किये जाने वाले पुरुषार्थ का विचार एकांगी या टुकड़ों-टुकड़ों में करके काम नहीं चलेगा, अतः सभी अंगों का साकल्य से विचार करना आवश्यक है। उसी प्रकार हमने यह भी देखा कि व्यक्ति और समाज का अस्तित्व, सुख-दुख, हित-अहित न केवल एक दूसरे से जुड़े हैं, अपितु एक-दूसरे पर निर्भर भी हैं और ये दोनों घटक शिक्षा, कर्म, योगक्षेम तथा यज्ञ, इन चार बातों से आपस में सम्बद्ध हैं। तथापि व्यक्ति-जीवन तथा समष्टिजीवन का सर्वांगीण विकास करने के लिए और व्यक्ति व समाज के बीच एकात्मता के बंधनों को सुदृढ़ करने के लिए कुछ व्यवस्थाएँ भी करनी पड़ती हैं। कारण यह है कि प्रत्यक्ष जीवन के साथ जुड़े हुए किसी विषय का केवल सैद्धान्तिक विश्लेषण और विवेचन करने से काम नहीं बनता। ऐसा विश्लेषण कितना ही वस्तुनिष्ठ क्यों न हो, उसके निष्कर्ष कितने ही अचूक क्यों न हों, उसके अनुरूप आचार-विचार की व्यवस्था का होना भी आवश्यक होता है। मान लीजिए, हमें अपनी भूमि में एक पेड़ लगाना है तो उसके लिए भूमि कैसे तैयार की जाये, पौधा कब लगाया जाये, कैसे लगाया जाये, खाद कौन सी डालें, किन खादों को न डालें, पानी कब दें, अनावश्यक खरपतवार की तथा परजीवी टहनियों की छँटाई कब करें, कहीं इस पेड़ के बढ़ने से परिसर के अन्य उपयोगी पेड़ों को हानि तो नहीं पहुँचेगी, जिस जाति का पेड़ लगाया है, उसके पत्तों, फूलों और फलों का गुणधर्म क्या है, आदि कई बातों का विचार करना पड़ता है और उसके अनुसार

सारा प्रबन्ध करना पड़ता है। ये सब बातें एकाध पौधे के लिए जितनी आवश्यक हैं, उतनी ही, अपितु उससे भी अधिक, शरीर, मन, बुद्धि, आत्मा से युक्त रहने वाले व्यक्ति एवं समष्टि के विकास के लिए आवश्यक हैं। मनुष्य की प्रकृति, उसकी भावनाओं, आकाँक्षाओं आदि का विकासक्रम निर्धारित करने के लिए, वह जिस समाज का घटक है, उस समाज की चिति, समाज के घटक के नाते उस व्यक्ति का कर्तव्य तथा जीवन का अन्तिम लक्ष्य आदि बातों का समग्र विचार करना तथा तदनुसार नियम एवं व्यवस्थाएँ बनाना आवश्यक होता है।

इन्हीं सब बातों का समेकित विचार कर हमारे यहाँ व्यक्तिगत जीवन एवं समष्टिजीवन का आपस में तालमेल रखने के उद्देश्य से आश्रम-व्यवस्था व वर्ण-व्यवस्था का निर्माण किया गया था। आश्रम-व्यवस्था का उद्देश्य मुख्यत: व्यक्ति की धारणा एवं विकास है तो वर्ण-व्यवस्था मुख्यत: समष्टि की धारणा को समक्ष रखकर की गयी है। चूँकि व्यक्तिधर्म व समष्टिधर्म परस्पर पूरक हैं, आश्रम-व्यवस्था की रचना करते समय समष्टि का भी ध्यान रखा गया है।

ब्रह्मचर्याश्रम

ब्रह्मचर्य आश्रम विद्याध्ययन का काल होता है। यह लगभग 12 वर्ष का माना गया था। व्यक्ति के भावी जीवन की शारीरिक, मानसिक तथा बौद्धिक नींव डालने का यह काल था। आज भी हम लोग यह मानते हैं कि लड़के-लड़कियों पर विद्यार्थी अवस्था में जो संस्कार पड़ते हैं, उन्हीं के अनुसार उनके भावी जीवन को दिशा मिलती है। मनुष्य कैसा बने, इसका एक मानचित्र आश्रम-व्यवस्था का निर्माण करने वाले और उससे काम लेने वाले हमारे विचारवान धर्मवेत्ताओं ने अपने सामने रखा था। व्यक्तिगत दृष्टि से विकसित निश्चित जीवनलक्ष्य वाले तथा उसके साथ ही समाज की सुख-समृद्ध धारणा के लिए उपकारक मनुष्यों का निर्माण करना भारतीय चिन्तकों एवं ऋषि-मुनियों को अभिप्रेत था। इसीलिए उन्होंने एक ऐसी प्रथा डाली कि विद्याध्ययन गुरुकुल में या गुरु के नित्य सहवास में रहकर ही करना चाहिए। मनुष्य निर्धन हो या धनवान, उसका वर्ण कुछ भी हो, गुरुकुल में सबको एक ही अनुशासन

में रहना पड़ता था तथा सबके साथ एक सा व्यवहार किया जाता था। श्री कृष्ण और सुंदामा का अध्ययन साथ-साथ हुआ। सत्यकाम जाबाल जैसा, पिता का नाम तक न जानने वाला बालक भी सबके साथ बराबरी से शिक्षा पाता रहा। गुरु का सहवास और उसके व्यक्तित्व का प्रभाव बच्चों को सहज ही में वास्तविक जीवनशिक्षा दे जाता था।

शास्त्र-ग्रन्थों के अध्ययन से ग्रान्थिक ज्ञान तो इन छात्रों को मिलता ही था, शिक्षा में एकांगीपन भी नहीं था। व्यायाम तथा शारीरिक परिश्रम के काम करने के कारण शरीर सुदृढ़ होता था और कोई भी काम अपने में हेय नहीं होता, यह श्रम की प्रतिष्ठा बढ़ाने वाला संस्कार अपने आप हो जाता था। स्वावलम्बन के पाठ सहज ही में मिल जाते थे। यम-नियमों के पालन के कारण मन को स्थिरता प्राप्त होती थी और स्वधर्म की उपेक्षा कभी नहीं होती थी। शरीर, मन, बुद्धि की यह तैयारी भावी जीवन का सम्बल बन जाती थी। ऐसी आश्रम-व्यवस्था आजकल आधुनिक परिवेश में देना कठिन है। प्रकृति के परिसर में घर से दूर रहना तथा तपःपूत जीवन व्यतीत करने वाले तथा ज्ञानदान के लिए पूर्णतः समर्पित गुरु मिलना भी अब सरल नहीं है। आज समृद्ध एवं सुसज्जित आवासीय (रेसिडेंशियल) शिक्षा-संस्थाएँ उपयुक्त सिद्ध हो रही हैं। शिक्षा का व्यापक प्रसार स्वागत करने के योग्य है, किन्तु शिक्षा को केवल पेट पालने की विद्या का जो स्वरूप प्राप्त हो गया है उसके कारण हमारे सामाजिक जीवन में कई समस्याएँ उत्पन्न हो रही हैं। चरित्रवान, तेजस्वी, धर्मज्ञ और जीवन में आत्मविश्वास के साथ पदार्पण करने वाला युवावर्ग इन दिनों कहीं दिखाई नहीं देता। ब्रह्मचर्य के मूल उद्देश्य को आँखों से ओझल न होने देते हुए नयी परिस्थितियों में शिक्षा का स्वरूप निश्चित करना वास्तव में विचारकों और शासकों के लिए सबसे बड़ी चुनौती है। इस दृष्टि से पुरानी भारतीय शिक्षा-प्रणाली की ग्राह्य बातें खोजकर आज की निर्जीव शिक्षा में प्राण फूँकने का प्रयास अपेक्षित है। शिक्षा आधुनिक नये भवन में मिलती है या गुरु के आश्रम में, यह प्रश्न गौण है। सच्चा प्रश्न यह है कि शिक्षा की मूल भावना को अक्षुण्ण रखते हुए ब्रह्मचर्याश्रम के उद्देश्यों को कैसे सफल बनाया जाय।

गृहस्थाश्रम

हमारे यहाँ एक वचन है - "धन्यो गृहस्थाश्रम:" और वह अर्थपूर्ण भी है। प्राचीन आश्रम-व्यवस्था में गुरु-गृह में शिक्षा पूरी करने के बाद गृहस्थाश्रम के लिये अधिकारी बनकर विद्यार्थी अपने घर लौटता था। उसमें कर्त्तव्यनिष्ठा के, सामूहिक जीवन में समानता के, चारित्रिक गुणों के और यज्ञप्रधान जीवन-दृष्टि के संस्कार भरे हुए होते थे। विद्यार्थी अवस्था में ही उसे गुरु ने यह भली-भाँति बोध कराया होता था कि जीवन इन्द्रिजन्य सुखों के निरंकुश उपभोग के लिए न होकर उसका अन्तिम लक्ष्य अपने अविच्छिन्न आनन्दमय स्वरूप में प्रविष्ट होना ही है। आत्मिक चैतन्य मानव देह का सहारा लिए होता है। इसीलिए मानवदेह का महत्त्व है। शरीर-मन-बुद्धि की सहायता जीवन-लक्ष्य की ओर जाने के लिए अपरिहार्य होती है, इसलिए उनकी आवश्यकताओं को पूरा करने तथा उनका विकास करने की व्यवस्था हमारे मनीषियों ने गृहस्थाश्रम के रूप में की है। ब्रह्मचर्याश्रम के बाद यह दूसरा आश्रम है। धर्म के अनुकूल सारे उपभोग इस आश्रम में मनुष्य प्राप्त कर सकता है। समाज के विविध उपक्रमों के लिए यही आश्रम आधारभूत होता है। धर्माचरण द्वारा ही अभ्युदय और नि:श्रेयस्, ये जीवन के दोनों लक्ष्य पुष्ट होते हैं। वह एकलक्ष्यी न रहकर समग्र बनता है। इस प्रकार से तृप्त, शान्त और समग्र जीवन समष्टि को भी स्थिरता, शान्ति और सुख-समृद्धि प्राप्त करा देता है।

भारतीय संस्कति के महान अध्येता तथा भाष्यकार डॉ. राधाकृष्णन ने अपने 'पूर्व और पश्चिम' (ईस्टर्न रिलीजन्स एंड वैस्टर्न थाट्स) नामक ग्रन्थ में भारतीय संस्कृति की यह विशेषता भली-भाँति स्पष्ट की है: "हम लोग कहते हैं कि आत्मा शरीर से भिन्न है और वह सत्य भी है। किन्तु साथ ही यह भी सत्य है कि शरीर व आत्मा एक दूसरे के साथ अत्यन्त घनिष्ठता के साथ जुड़े हुए हैं। कुछ आध्यात्मिक बातें ऐसी भी हैं, जो शरीर के सुख-भोग की इच्छा तृप्त होने पर ही निर्भर हैं। जीवन के शारीरिक व आर्थिक पक्ष सर्वाधिक महत्त्व के शायद न हों, किन्तु आध्यत्मिक मार्ग में इन दोनों का निश्चय ही बहुत महत्त्वपूर्ण

स्थान है।" (पृष्ठ 496)

स्त्री-जीवन की दृष्टि से भी गृहस्थाश्रम को प्राप्त विशेष महत्त्व को ध्यान में लेना होगा। स्नेह, प्रेम, ममता नारी की प्रबल प्रेरणा हुआ करती हैं। 'गृहिणी के नाते उसकी इस स्वाभाविक प्रेरणा को गृहस्थाश्रम में उपयुक्त अवसर मिलता है। केवल शारीरिक वासना-तृप्ति के समाजमान्य राजमार्ग के रूप में ही विवाह संस्कार या गृहस्थाश्रम में प्रवेश की कल्पना को हमारी सांस्कृतिक परम्परा ने नहीं स्वीकारा है। स्त्री और पुरुष-वधू और वर-के आत्मिक मिलन एवं जीवन-विकास के एक पवित्र संस्कार के रूप में हमने इसे माना है। भारतीय संस्कृति में नारी को उपभोग्य वस्तु नहीं, अपितु माता के आदर्श रूप में रखा गया है। पातिव्रत्य धर्म है, मातृत्व दायित्व है, नारी नर का अर्धांग है, वह पति की सहधर्मचारिणी है, यह हमारी मान्यता है। स्त्री गृहस्वामिनी है। "धर्मे च अर्थे च कामे च नातिचरामि" इस अभिवचन के साथ पुरुष उसको स्वीकार करता है, यह बात विशेष रूप से ध्यान में लेना आवश्यक है। स्त्री और पुरुष एक ही रथ के दो पहिऐ हैं, यह समानता हमारे यहाँ मानी गयी है। प्रसन्न, तृप्ति देने वाला और समाजाभिमुख गृहस्थाश्रम एकात्म मानव दर्शन का एक महत्त्वपूर्ण और गौरवशाली विभाग है। मनुष्य को मनुष्य बनाने वाली यह गृस्थाश्रम-संस्था जितनी स्वस्थ एवं कार्यक्षम हो, उतना ही समाज भी सुस्थिति में रहता है।

व्यक्ति की स्वतंत्रता का स्वैराचार में परिणत होने वाला अतिरेक या मनुष्य के व्यक्तित्व को नष्ट कर उसे चौखटे में बन्द पद्धति का दास बनाने वाला शासन-संस्था का प्रयास, दोनों से परिवार-संस्था संकट में आ सकती है। संसार का अनुभव ऐसा है कि जब-जब ऐसा अतिरेक होता है, तब-तब मानव के सुख, शान्ति एवं प्रगति के लिए गंभीर संकट उत्पन्न हो जाता है। असीम व्यक्ति-स्वतंत्रता की ओर झुके पाश्चात्य समाजों की धारणा डगमगा गयी है। देहसुख और उपभोग के मद में डूबे हुए मन में अतृप्ति एवं विफलता गहरी पैठ जाती है। परिवार टूट जाते हैं। बीसियों सामाजिक समस्याएँ खड़ी हो जाती हैं। ये विकृतियाँ विशेषकर सामाजिक स्वरूप की होती हैं। दूसरी ओर रूस ने परिवार

नामक संस्था को ही ध्वस्त करने का प्रयास किया, किन्तु वह सफल नहीं हो सका। इस दिशा में उठाये गये पग रूस को वापस लेने पड़े। सुखी परिवार मनुष्य की अनिवार्य शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक आवश्यकता है। इस आवश्यकता को पूरा न कर, घर-गृहस्थी न चलाते हुए, केवल समाज की ही घर-गृहस्थी चलाने वाले लोग विरले हैं। जहाँ सामूहिक रूप में गृहस्थाश्रम से मुख फेरने का प्रयास हुआ, वहाँ अनीति, दम्भ और पाखंड की प्रबलता हो गयी। हिप्पी लोग, बौद्ध भिक्षु और भिक्षुणियाँ हमारे यहाँ की बाल-विधवाएँ अप्राकृतिक बन्धनों के कारण उत्पन्न होने वाली कुण्ठाओं के उदाहरण हैं। इसलिए गृहस्थाश्रम सर्वसामान्य लोगों के लिए श्रेयस्कर माना गया है और उसे सर्वोत्तम बनाने के लिए अनेक यम-नियम हमारे पूर्वजों ने बना रखे हैं। शाश्वत मानवीय प्रकृतिधर्म के साथ उनका अभिन्न नाता उन्होंने जोड़ दिया है।

संक्षेप में, समाज में गृहस्थाश्रम धर्माधिष्ठित हो तो समाज को सुख, समृद्धि, कर्त्तव्याभिमुख नागरिक एवं अन्य समाजोपयोगी संस्थाओं के संवर्धन का बहुमूल्य लाभ होता है और समाज का सच्चे अर्थों में विकास होता है।

संन्यास व वानप्रस्थाश्रम

आश्रम व्यवस्था के ये दो अन्तिम आश्रम व्यवहारतः लगभग लुप्त हो गये से लगते हैं। कारण यह है कि वानप्रस्थ का अर्थ घर-गृस्थी के झंझट से निवृत्त होकर वन के लिए प्रस्थान करना, नागर जीवन से दूर जाकर जो काल व्यतीत करना है उसमें मन परमात्मा में अधिक से अधिक लगाने का प्रयत्न करना था। इस आश्रम को पत्नी के साथ स्वीकारा जा सकता था। यह निवृत्ति जब तन-मन में पूर्ण रूप से विम्बित हो जाये तो फिर संन्यास लिया जाता था। उसका अर्थ होता था ममत्व के सारे बन्धन तोड़कर अपने घर पर तुलसीपत्र रखकर और गेरुए वस्त्र परिधान कर मन को किसी भी वाद में बिना उलझाये अखंड रूप से भ्रमण करना। इसी अवस्था में आगे चलकर योग-सामर्थ्य से देह-त्याग भी करना। गृहस्थ और वानप्रस्थ दोनों आश्रम पूरे करने के बाद ही यह चौथा आश्रम स्वीकारें, ऐसा कोई कठोर नियम नहीं था। जिस क्षण मन

में अविचल वैराग्य उत्पन्न होकर सर्वसंग-परित्याग करने की इच्छा हो, उसी क्षण संन्यास ग्रहण करने की अनुमति होती थी। जिन्होंने एकदम संन्यासाश्रम को स्वीकार किया ऐसे महापुरुषों के बीसियों उदाहरण अपने इतिहास में पाये जाते हैं। उन्होंने भारत में फिर से वेदान्त की प्रभुसत्ता को प्रस्थापित कर विविध प्रकार से धार्मिक-सामाजिक समन्वय करके राष्ट्र को सुदृढ़ किया।

श्रीमत् आद्य शंकराचार्य ने तो आयु के आठवें वर्ष में ही संन्यास लिया था। नवीन इतिहास में स्वामी विवेकानन्द व उनके अन्य युवा सहयोगियों को भी रामकृष्ण परमहंस ने संन्यास की दीक्षा दी थी। विवेकानन्द ने रामकृष्ण मिशन में संन्यासी सेवकों की एक परम्परा चालू की। किन्तु यह भी एक वास्तविकता है कि सर्वसंगपरित्याग करने वाला युवा वर्ग रामकृष्ण मिशन को अपेक्षा के अनुसार उपलब्ध नहीं हुआ। इन दिनों वह कठिनता से मिलेगा। इसीलिए सामाजिक दृष्टि से आज के समय की आवश्यकता को ध्यान में रखकर वानप्रस्थ व संन्यास - दोनों आश्रमों का कुछ नया आशय सामने रखना होगा।

अब वानप्रस्थ का संबंध वनवास के साथ जोड़ने का कोई कारण नहीं है। गृहस्थाश्रम के दायित्वों को भली-भाँति निभाने के बाद कारोबार के सारे सूत्र नयी पीढ़ी को सौंप देना और मन से गृहस्थी से निवृत होकर अपना अधिकांश समय समाज की सेवा में व्यतीत करना ही आज के युग के लिए वानप्रस्थ का ग्राह्य रूप है। अनेक सेवा-कार्यों के लिये अनुभवी एवं प्रौढ़ लोगों की आवश्यकता होती है। वहाँ इन वानप्रस्थी लोगों को जाना चाहिए और उन कार्यों को सुचारु रूप से चलाना चाहिए। आजीविका की व्यवस्था से निवृत्त हुआ, अवकाशप्राप्त लोगों का एक बड़ा वर्ग अब समाज में निर्मित हो गया है। वे यदि सेवा का यह व्रत लेते हैं, तो एक बहुत बड़े कार्य को देश में गति मिल सकती है। यथासम्भव पति-पत्नी मिलकर यह काम करें तो अधिक अच्छा। विश्व हिन्दू परिषद्, वनवासी कल्याण आश्रम, छात्रावास, रुग्णालय, आदर्शवादी शिक्षा-संस्थाएँ, सहकारी संस्थाएँ आदि अनेक क्षेत्रों में निःसवार्थ, निष्ठावान, परिश्रमी और विशुद्ध सेवाभाव से काम करने

वाले लोगों की आज नितान्त आवश्यकता है। समाज की इस आवश्यकता को पूरा किया जाना चाहिए।

संन्यासी जीवन का संबंध गेरुए वस्त्र पहनने या एकान्त में जाकर समाज-विमुख काल बिताने के साथ गलत धारणा के कारण जोड़ा जाता है। इसका निराकरण पंडित दीनदयाल जी ने किया है और संन्यासियों द्वारा आज तक किये गये महान कार्यों को उन्होंने गौरव भी दिया है। वे लिखते हैं – "लोगों की धारणा है कि अपने देश और अपने समाज में से किसी की भी परवाह न करते हुए लोगों से दूर कहीं किसी कोने में धूनी रमाकर बैठने वाला ही संन्यासी होता है। किन्तु संन्यासियों के बारे में यह धारणा एकदम गलत है। संन्यास निष्क्रियता का प्रतीक न होकर महान कार्यों का प्रेरणा-स्थान है। संन्यास का अर्थ है अखण्ड कर्मयोग[1]।

हमारे यहाँ के साधु-संन्यासी लोग जीवन के सभी मोहों से मुख मोड़कर अपना सम्पूर्ण जीवन देश और समाज की सेवा के लिए लगा देते थे। वे सदा सर्वत्र अखंड भ्रमण करते थे। तीन दिन से अधिक समय वे किसी भी स्थान पर नहीं रहते थे। अपनी परम्परागत पद्धति से इस समाज को ज्ञानसम्पन्न, समर्थ एवं सुखी बनाने के लिए ये संन्यासी अखंड कर्मशील रहते थे। देश की हर नयी पीढ़ी को राष्ट्रभक्ति के पाठ देने का काम संन्यासियों ने ही किया। उनके त्याग, परिश्रम और सेवा के कारण ही आसेतु हिमालय सारा भारत एकता के सूत्र में बँध गया। ऐहिक बंधनों से मुक्त उनका त्यागमय जीवन सभी प्रान्तों के लोगों के लिये, सभी भाषा-भाषियों के लिए आदरणीय एवं वन्दनीय हो गया। आज के जैसे प्रवास के सुगम साधन उन दिनों नहीं थे। फिर भी उन्होंने भगीरथ-प्रयत्न कर यह कार्य कर दिखाया।"

अंत: बाह्य: सामान्य लोगों जैसा रहन-सहन एवं वेशभूषा रखकर भी चित्त की धारणा संन्यासी के समान रह सकती है। पंडित दीनदयाल जी ने संन्यासी के जो गुणविशेष बताये हैं और उनके द्वारा किये जाने वाले जिस श्रेष्ठ कार्य का उल्लेख किया है, तदनुसार जीवन जीने वाले हजारों संन्यासी आज भी समाज-जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में

कार्य करते हुए हमें दिखाई देते हैं। उनके तन पर गेरुए वस्त्र हैं या नहीं, यह प्रश्न गौण है। पंडित दीनदयाल जी स्वयं ऐसे उच्च कोटि के संन्यासी, कर्मयोगी थे, यह इस परिप्रेक्ष्य में लक्षणीय है। हिन्दू दार्शनिकों एवं समाजशास्त्रियों ने संन्यास के रूप में मानवीय जीवन की एक भव्य एवं उदात्त संकल्पना हमारे सम्मुख रखी, ऐसा कहने में कोई अतिश्योक्ति नहीं है। भारत का यह आदर्श मानव, ग्रीस के उदार धी मानव या मध्ययुगीन यूरोप के दुर्दान्त पराक्रमी योद्धापुरुष से मूलतः भिन्न है। इस भारतीय आदर्श का स्वरूप-निवेदन करते समय डॉ. राधाकृष्णन ने कहा है - "आत्मा की स्वतंत्रता और निर्भयता, कष्टों और पराजय के विचार को तनिक भी प्रश्रय न देने वाला धैर्य, अखिल विश्व को व्यापने वाली परमात्मा की सत्ता में श्रद्धा, सबके प्रति निरपेक्ष अमृतमय प्रेम और अपने जीवन के बारे में "मैं नहीं तू ही" भाव संन्यासी के विशेष लक्षण हैं।"

ऐसे संन्यासवृत्ति वाले महानुभावों की समाज को सदैव आवश्यकता होती है।

आश्रमों की परस्पर पूरकता

सारांश, आश्रम-व्यवस्था यद्यपि मुख्यतः व्यक्ति के सर्वांगीण विकास के लिए होती थी, फिर भी सामाजिक विकास के लिए वह हर स्तर पर पूरक ही रहे, ऐसी योजना हमारे यहाँ रही। व्यक्ति और समष्टि की परस्पर पूरकता पंडित दीनदयाल जी के एकात्म मानव दर्शन का महत्त्वपूर्ण भाग होने के कारण इस दृष्टि से कुछ विचार कर लेना उपयोगी होगा।

पहला आश्रम ब्रह्मचर्य था। इस आश्रम में व्यक्ति को शारीरिक एवं मानसिक दृष्टि से अपने जीवन की नींव डालनी होती थी, किन्तु साथ ही समाज की किन्हीं आवश्यकताओं को पूरा करने की शिक्षा भी लेनी होती थी। इस अवस्था में जिन विषयों का अध्ययन करना होता था, उनमें 'वर्णधर्म में निपुणता' विषय का भी समावेश था। इस विषय का विशेष महत्त्व होता था कि अध्ययन पूरा करने के बाद अपने घर लौटने पर निश्चय ही गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना है। इस आश्रम में पारिवारिक जीवन का आनन्द लेते हुए ही अपने जीवन-निर्वाह के लिए वर्ण-धर्म

के अनुसार कर्म (आज की परिभाषा में उद्योग-व्यवसाय) करना आवश्यक होता था। यह कर्म समाज की किन्हीं आवश्यकताओं को निभाने वाला होता था। कोई अध्ययन-अध्यापन करता, कोई खेती-बाड़ी करता, कोई व्यापार करता, कोई समाज और राष्ट्र की रक्षा के लिए शस्त्र बनाता, तो कोई और अन्य शारीरिक सेवा के कार्य को स्वीकारता था। "शिक्षा समाज से व्यक्ति की ओर", और "कर्म व्यक्ति से समाज की ओर" - यही सूत्र सँभालते हुए समाज से शिक्षा प्राप्त करने के बाद समाज की विविध आवश्यकताओं को पहचानकर उनमें से कुछ की पूर्ति अपनी प्रकृति के अनुसार करने के लिये कर्मशील बनना समष्टिधर्म के अनुसार व्यक्ति का धर्म होता है।

इस सूत्र का उत्तरार्ध है - "योगक्षेम समाज से व्यक्ति की ओर" और "यज्ञ व्यक्ति से समाज की ओर", जिसका अर्थ है व्यक्ति को निर्वाह के साधन समाज से प्राप्त होते हैं, किन्तु साथ ही समाज का ऋण लौटाने के लिए निरपेक्षता से "इदं न मम" की भावना से समाज को कुछ देने का कर्त्तव्य निभाना। समाज के लिए इस समर्पण-भाव का दूसरा नाम है यज्ञ। ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ व संन्यास-तीनों आश्रमों का आधार मुख्यतः गृहस्थाश्रम ही होता है। धर्मसम्मत उपभोग तथा उपलब्ध साधनों में से कुछ भाग का समाज के लिये विनियोग, ऐसा यह चक्र है। इसमें समाज की धारणा व व्यक्ति का विकास - दोनों बातें एक साथ साध्य होती हैं। वानप्रस्थ एवं संन्यास आश्रमों में व्यक्ति की आवश्यकताएँ उत्तरोत्तर कम होती जाती हैं और समाज से कुछ माँगने की भूमिका होती ही नहीं है। आत्मीयता की कक्षाएँ परिवार की दीवारों को लाँघकर विशाल बन जाती हैं। "यह विश्व ही मेरा घर, ऐसी जिसकी मति सुस्थिर, किम्बहुना हो गया स्वयं ही चराचर।" यह उक्ति अनुभव करने तक मनुष्य पहुँच जाता है। वह इस तादात्म्यभाव के साथ सेवानिष्ठ बनता है। व्यक्तिगत दृष्टि से वासनामुक्त और सामाजिक दृष्टि से ऋणमुक्त होने की यह परिपक्व अवस्था होती है।

वर्णव्यवस्था

व्यक्तिगत जीवन तथा समष्टि जीवन भली-भाँति समन्वित

होकर चलें, उनका विकास हो, इस दृष्टि से निर्मित प्रमुख व्यवस्थाओं में से मुख्यतः व्यक्तिगत जीवन के साथ जुड़ी आश्रमव्यवस्था के बारे में हमने अब तक विचार किया। अब मुख्यतः समष्टि-जीवन के साथ जुड़ी वर्णव्यवस्था का विचार करें।

इस परिप्रेक्ष्य में पहली बात ध्यान में लेने योग्य यह है कि यह वर्णव्यवस्था मूल रूप में आज अस्तित्व में नहीं है। किन्तु इस पर भी वह एक बतंगड़ का विषय बन बैठी है। इस प्रश्न को लेकर आज तक कई बार तू-तू, मैं-मैं मची और आज भी कभी-कभार वह वेग के साथ सिर उठाती है। इसका प्रमुख कारण यह है कि इस वर्ण-व्यवस्था में 'व्यवस्था नामक जो भाग है, वह समाप्त हो चुका है और केवल 'वर्ण' भाग जाति-संस्था से जुड़कर उच्च-नीचता की विकृत कल्पनाओं के रूप में आज विद्यमान है।

वर्णव्यवस्था का एकान्तिक समर्थन करने वालों का कहना है कि यह व्यवस्था ईश्वर-निर्मित है अर्थात् वह किसी रूढ़ि द्वारा मानव-निर्मित व्यवस्था न होकर सनातन धर्म का ही एक भाग है। दूसरी बात, व्यक्ति को प्राप्त होने वाला वर्ण उसके पूर्वजन्म के कर्म के अनुसार निश्चित होता है। इसलिए यह व्यवस्था जन्माधिष्ठित या कुलाधिष्ठित है। वर्णव्यवस्था का, अनेक लोग इसी बात को लेकर सैद्धान्तिक विरोध करते हैं।

आज के विज्ञान, व्यक्ति-स्वातन्त्र्य और सामाजिक समानता के युग में अज्ञात पूर्वजन्म के पाप-पुण्यों के सहारे व्यक्ति को जन्म लेते ही और फिर जीवन भर एक सीमा में जकड़े रखने वाली और समाज में विभेद-निर्माण करने वाली इस व्यवस्था के विरुद्ध हाय-तौबा मचे तो कोई आश्चर्य नहीं।

वर्णव्यवस्था का विरोध करने वाला दूसरा गुट है अवसरवादी नेताओं का। ये नेता सामाजिक क्षेत्र में भले ही प्रगतिशील कहलाकर प्रतिष्ठा प्राप्त करना चाहते हों या इस प्रश्न को पूँजी बनाकर सत्ता की राजनीति खेलने वाले हों, उनके द्वारा धारण किया गया मुखौटा सैद्धान्तिक विरोध का होने पर भी उनका आन्तरिक हेतु स्वार्थ साधने का ही होता

है। इस प्रकार जो लोग अपने किसी न किसी स्वार्थ के लिये वर्णव्यवस्था की विकृति को पूँजी बनाते हैं, उनका विचार हम यहाँ नहीं करेंगे। किन्तु इस व्यवस्था का जो लोग सैद्धान्तिक या मानवतावादी भूमिका से विरोध करते हैं, उनका विचार करना आवश्यक है।

इस वर्णव्यवस्था की आज़ जो स्थिति है उसके बारे में पंडित दीनदयाल जी ने कहा है- "सैंकड़ों-हजारों वर्षों की दीर्घ कालावधि के सामाजिक उत्थान-पतन की उत्तुंग लहरों के आघातों के कारण यह व्यवस्था आज दुर्बल हो गयी है। इस व्यवस्था में दोष खोजने वालों के मन में इस व्यवस्था को ही समाप्त करने का विचार आये, इतने दोष आज इसमें घुस गये हैं। अनेक विकृतियाँ इसमें पैदा हो गयी हैं। और हमें उन तमाम विकृतियों को दूर करना होगा, यह भी सच है।" इसका अर्थ यह हुआ कि वर्णव्यवस्था का कुछ लोग सद्भावना के साथ जो विरोध करते हैं, उनसे पंडित दीनदयाल जी सहमत हैं। किन्तु किसी व्यवस्था में किसी कारणों से दोष उत्पन्न हो गया है, इसलिए लगे हाथ वह पूरी व्यवस्था ही त्याज्य हो जाती है, इस निष्कर्ष से वे सहमत नहीं। उनके अनुसार किसी व्यवस्था का मूल्यमापन इतने उथले ढंग से करना ठीक नहीं। इस सम्बन्ध में उन्होंने एक मौलिक विचार रखा है। वे कहते हैं - "इस व्यवस्था के बारे में एक सत्य को हमें ठीक ढंग से समझ लेना होगा। व्यवस्था के दो अंग होते हैं- एक भीतरी, दूसरा बाहरी। भीतरी भावना और बाहरी चौखट हर व्यवस्था में होते हैं। आन्तरिक सिद्धान्त की अभिव्यक्ति के लिये कुछ न कुछ बाहरी चौखट आवश्यक होती है, किन्तु आन्तरिक सिद्धान्त ही अन्त में महत्त्वपूर्ण होता है। यह आन्तरिक सिद्धान्त ही उस व्यवस्था की नींव होता है। उसे समझ लेना ही उस व्यवस्था के रहस्य को समझ लेना होता है।"

अब चातुर्वर्ण्य भी एक व्यवस्था ही है। इसलिए उसके यथार्थ स्वरूप और मूल्य को समझने के लिए हमें इसी दृष्टि से विचार करना होगा। ऐसा विचार करने लगे तो स्वाभाविक रूप से प्रश्न उपस्थित होता है कि इस व्यवस्था में आन्तरिक सिद्धान्त क्या है? दीनदयाल जी ने 'सामंजस्यपूर्ण समाज-व्यवस्था' शीर्षक लेख में इसी बात का विस्तार से

विवेचन किया है:-

"समाज-जीवन की विविध आवश्यकताओं में से किसी न किसी आवश्यकता को पूरा करने में सहभागी होकर व्यक्ति के लिए समष्टिधर्म का पालन करना सुलभ हो और साथ ही अपना विकास करते हुए वह समाज-सेवा के लिये अधिकाधिक समर्थ बने, इसी दृष्टि से हमारे यहाँ वर्ण-व्यवस्था का जन्म हुआ। समाज की आवश्यकताएँ विविध प्रकार की होती हैं। कुछ बौद्धिक होती हैं, कुछ अन्तर्बाह्य सुरक्षाविषयक होती हैं। खेती, पशु-पालन, हस्तोद्योग, कला, जीवन के लिए आवश्यक विविध वस्तुओं का उत्पादन एवं वितरण आदि कितने ही कार्य समाज में सुचारु ढंग से चलाने पड़े हैं। समाज की ये सभी आवश्यकताएँ व्यक्ति के परिश्रम से ही पूरी होनी होती हैं। प्रत्येक व्यक्ति द्वारा अपने-अपने गुण-कर्म के अनुसार समाज की सेवा करते बने, उसमें जो श्रेष्ठ गुण हैं उनकी अभिव्यक्ति एवं विकास हो, और इस प्रक्रिया के चलते समाज भी आगे बढ़े, इस दृष्टिकोण से समाज के अन्दर की गयी व्यावहारिक व्यवस्था को ही वर्ण-व्यवस्था का नाम दिया गया है। इस व्यवस्था के कारण व्यक्ति को अपने जीवन का कार्य एवं निर्वाह का साधन उपलब्ध होते थे और समाज की विविध आवश्यकताएँ भी पूरी होती थीं।

जिनमें साहस पौरुष, पराक्रम, आदि बातें थीं वे समाज की सुरक्षा के लिए अग्रसर हुए। जिनका रुझान ज्ञान-साधना की ओर था, उन्होंने ज्ञान-विज्ञान में प्रगति करने तथा पठन-पाठन करने का क्षेत्र चुना कला, विद्या, वाणिज्य, व्यापार, गोपालन आदि बातों में निपुण रहे लोगों ने समाज के भरणपोषण का दायित्व अपने ऊपर लिया। जिनके लिए इनमें से कुछ भी करना संभव नहीं था, उन्होंने समाज की छोटी-मोटी आवश्यकताओं को पूरा करने का दायित्व स्वीकार किया।

वर्णव्यवस्था में जो लोग ऊँच-नीच का भेद देखते हैं, वे वास्तव में अन्धे हैं। वर्णव्यवस्था विभेदकारी न होकर एक एकात्म व्यवस्था है। एक व्यक्ति में जैसी एकात्मता होती है, वैसी ही एकात्मता इस समाज-पुरुष में भी हो, ऐसी भावना से इस व्यवस्था का निर्माण किया

गया। समूचे समाज को सभी प्रकार के भौतिक एवं आध्यात्मिक सुख सुलभता से प्राप्त करा देने वाली यह व्यवस्था है।" (राष्ट्र-जीवन की दिशा)

वर्णव्यवस्था का मूल्यमापन करते समय उस व्यवस्था के इस आन्तरिक सिद्धान्त व मूलभूत स्वरूप को ठीक से ध्यान में लेना नितान्त आवश्यक है। कोई भी व्यवसाय एक ओर तो व्यक्ति के योगक्षेम का साधन होता है, साथ ही वह एकात्म समाज-जीवन का भी एक अंग होता है, समाज-पुरुष की सेवा का माध्यम होता है। यह बोध और भावना हो तो फिर कर्म पर रूढ़ि, अज्ञान या विकृत अहंकार के कारण चिपके या चिपकाये गये ऊँच-नीच के भाव अपने आप गल जायेंगे और प्रत्येक कर्म फिर श्रेष्ठ प्रतीत होने लगेगा। ऐसी भावना से किये गये कर्मों से व्यक्ति और समाज की ऐहिक प्रगति तो होगी ही, साथ ही "यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्। स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।।" इस गीता-वचन के अनुसार उसकी आध्यात्मिक उन्नति का मार्ग भी सुगम हो जायेगा।

इसके साथ यह भी सत्य है कि किसी काल में व्यक्ति और समाज की धारणा तथा उन्नति के लिये अत्यन्त उपयुक्त सिद्ध हुई वर्णव्यवस्था की प्राचीन चौखट आज यदि कालबाह्य हो गयी है, तो उसे छाती से लगाये बैठने या उसके नाम से आँसू बहाने की कोई आवश्यकता नहीं है। अन्ततः चौखट चित्र के लिये होता है, चित्र चौखट के लिये नहीं। इसी न्याय से वर्णव्यवस्था के संन्दर्भ में जिस बात की रक्षा करनी है, वह है उसमें निहित समाजधारक प्राणतत्त्व, एकात्म सामाजिक जीवन की दृष्टि। पुराना चौखट जीर्ण-शीर्ण हो गया हो, तो कालानुरूप नया चौखट खड़ा किया जा सकता है, करना भी चाहिए। उसे खड़ा करना आज का युगधर्म होगा। किन्तु पुराने चौखट को नष्ट करने के अत्युत्साह में कहीं आन्तरिक सिद्धान्त को ही नष्ट कर दिया गया, तो नया चौखट कितना ही सुन्दर और नक्काशीदार क्यों न हो, उसका मूल्य लकड़ी की निष्प्राण कठपुतली जितना ही होगा।



9

समष्टि से परमेष्ठि तक

चारों पुरुषार्थों से परिपूर्ण व्यक्ति-जीवन से प्रारम्भ कर आगे चलकर परिवार, समाज, राष्ट्र और समूचे मानव-समाज तक की बढ़ती कक्षाओं और उनके बीच परस्पर एकात्म संबंधों का विचार हमने अब तक किया। किन्तु भारतीय संस्कृति की इस भूमि में विकसित एकात्म दर्शन केवल मानव के पास आकर ही नहीं रुकता। वह प्रकृति की मानवेतर प्राणि-सृष्टि, वनस्पति-सृष्टि और प्रकृति की दी हुई अन्य बातों का भी विचार करता है। मानव-जीवन का इस प्रकार सर्वांगीण विचार करते समय इन सभी बातों का उसमें समावेश करना एक परिपूर्ण एकात्म दर्शन के नाते उपयुक्त एवं अपरिहार्य भी है। जल, वायु, सूर्यप्रकाश, वनस्पति एवं प्राणी, खनिज सम्पदा आदि हमारे जीवन के साथ ऐसे जुड़े हुए हैं कि उनके बिना जीवन का केवल सुखोपभोग ही नहीं अपितु प्रत्यक्ष में जीवन भी असम्भव हो बैठेगा। उदाहरणार्थ- प्राणि-सृष्टि और वनस्पति-सृष्टि में दिन-रात चल रहा ऑक्सीजन तथा कार्बन डाई ऑक्साइड का लेन-देन, और इस लेनदेन पर निर्भर उन दोनों के जीवन इस बात को स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त हैं। प्रकृति से मिली वस्तुओं में वायु और पानी की आपूर्ति विपुल है। (विविध प्रकार के यंत्रोद्योगों के बेरोकटोक विकास और उनके केन्द्रीयकरण के कारण होने वाले प्रदूषण के परिणामस्वरूप शुद्ध वायु और शुद्ध जल की आपूर्ति भी

चिन्ता का विषय बन गया है।) वनस्पति-सृष्टि और मानवेतर प्राणि-सृष्टि में खनिज द्रव्य जैसी वस्तुएँ अपेक्षाकृत सीमित होती हैं। इस सीमित सम्पदा का हम बिना किसी अंकुश के उपयोग करते रहे तो वह हमारे लिए कितने समय तक पर्याप्त रहेगी, सोचने की बात है। साधन-सामग्री के प्रकृतिदत्त भण्डारों की भी अन्ततः कुछ सीमा तो होती ही है, इसे भुलाया नहीं जा सकता। किन्तु प्रकृति से मिलने वाली सम्पदा का उपयोग करते समय, उसका भण्डार कितना कम या अधिक है, और वह कितने समय तक पर्याप्त रहेगा, केवल इसी दृष्टि से सोचने से काम नहीं चलेगा। प्रकृति की भिन्न-भिन्न वस्तुओं में एक प्रकार से परम्परावलम्बन का चक्रीय संबंध (साइक्लिक रिलेशनशिप) होता है, एक संतुलन भी होता है, उसका भी विचार करना होगा। सुखोपभोग के लालच के कारण हम प्रकृति से मिलने वाली साधन-सम्पदा का अनियंत्रित उपयोग करते हुए उसे नष्ट करने लगे तो यह साधन-संतुलन बिगड़ जायेगा और उसके भीषण परिणाम हमें भोगने पड़ेंगे।

प्राकृतिक सम्पदा का अविचार से कैसा दुरुपयोग और विनाश किया जाता है, इसके उदाहरण के रूप में इन दिनों हमारे देश में जो अनाप-शनाप जंगल कटाई चल रही है उसकी ओर अंगुलि-निर्देश किया जा सकता है। इस संदर्भ में एक सर्वेक्षण किया गया था। उसके अनुसार भारत में उपलब्ध कुल 33 करोड़ हैक्टेयर भूमि में से लगभग सात करोड़ हैक्टेयर अर्थात् पाँचवें भाग पर जंगल हैं। देश के कुल भूमि-क्षेत्र में एक तिहाई क्षेत्र में जंगल हों और उसमें भी पर्वतों पर 60 प्रतिशत क्षेत्र में जंगल हों, ऐसी संस्तुति राष्ट्रीय वन-नीति समिति ने सन् 1952 में की थी। किन्तु वन-विभाग की ही सांख्यिक जानकारी के अनुसार प्रतिवर्ष 45 लाख हैक्टेयर भूमि पर से जंगल काटे जा रहे हैं।

इस जंगल कटाई के दुष्परिणाम ये हो रहे हैं कि वर्षा अनियमित हो गयी है। भूमि की उपजाऊ मिट्टी का भारी मात्रा में क्षरण हो रहा है और देश की खेती-बाड़ी (अन्न उत्पादन) को भी उसका कुफल भोगना पड़ रहा है। इसके दुष्परिणाम न केवल इन क्षेत्रों में, अपितु अन्य क्षेत्रों में भी दिखाई देने लगे हैं। उदाहरण के लिए देश का

तेजी से आर्थिक विकास हो, इस हेतु बनाये गये बड़े-बड़े बाँधों के जलाशयों की तली में कीचड़ एकत्र होने की गति पिछले कुछ वर्षों में चार गुनी हो गयी है। जंगल कटाई के कारण भूमि का जो क्षरण होता है, यह उसी का परिणाम है। फलस्वरूप इन जलाशयों की उपयोगिता की प्रारम्भ में जो काल-सीमा मान ली गयी थी, वह भी तीव्रता से कम होती जा रही है।

मानवेतर प्राणि-सृष्टि के संहार की कहानी भी ऐसी ही है। विदेशी मुद्रा प्राप्त करने के लालच में बाघ, सर्प, बन्दर, मोर आदि जंगली पशु-पक्षियों का निरंकुश संहार हुआ है। मेढक की टांगों के निर्यात के लिये टनों मेढक मारे जाते हैं, परिणामस्वरूप इन मेढकों द्वारा खेतों में खा लिये जाने वाले कीटों का उपद्रव बढ़ गया है और धान की खेती को अत्याधिक हानि उठानी पड़ रही है। ये विषय विधान-सभा और लोकसभा में भी उठाये गये हैं।

मानव द्वारा प्रकृति का यह जो निरंकुश शोषण किया जा रहा है, उसके बारे में पंडित दीनदयाल जी ने कहा है- "उद्देश्यपूर्ण, सुखी एवं विकासशील जीवन के लिए जिन भौतिक साधनों की आवश्यकता होती है, वे साधन हमें अवश्य प्राप्त होने चाहिए। ईश्वर द्वारा निर्मित सृष्टि का सूक्ष्म अध्ययन करने पर हमें दिखाई देगा कि कम से कम इतना प्रावधान ईश्वर ने निश्चित ही कर रखा है। किन्तु यह मानकर कि ईश्वर ने मनुष्य को जन्म केवल उपभोग के लिये दिया है, हम यदि सारी शक्ति एवं उपलब्ध साधन-सम्पदा को निरंकुशता से खर्च करने लगें तों वह कदापि उचित नहीं होगा। इंजन चलाने के लिये कोयले की आवश्यकता होती है, किन्तु कोयले की खपत के लिये इंजन नहीं बनाया होता। कम से कम ईंधन का उपयोग कर अधिक से अधिक शक्ति का कैसे निर्माण किया जाय, इसके लिए हम प्रयत्नशील होते हैं। यही दृष्टिकोण उचित है। उसी प्रकार मानवीय जीवन के उद्देश्य को आँखों से ओझल न होने देते हुए कम से कम ईंधन (उपभोग सामग्री) से अधिक से अधिक गति उत्पन्न कर हम अपने ध्येय को प्राप्त कर सकें, ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए। यह व्यवस्था करते समय मानव-जीवन

के एकाध पक्ष का ही विचार न करते हुए उसके सम्पूर्ण जीवन का एवं अंतिम लक्ष्य का विचार भी आवश्यक है। यह व्यवस्था प्रकृति का शोषण करने वाली न होकर, उसके पोषण के लिये सहायक बनने वाली होनी चाहिए।

वस्तुतः प्रकृति से हमें उतनी ही सामग्री और वह भी इस ढंग से लेनी चाहिए कि उसकी भरपाई प्रकृति अपने आप कर सके। उदाहरण के लिए वृक्ष से बीज लेने पर उसकी हानि नहीं होती, प्रत्युत् लाभ ही होता है। किन्तु भूमि से अधिक उत्पादन लेने के लालच में आजकल हम ऐसे प्रयोग कर रहे हैं जिनके कारण कुछ समय बाद भूमि की उत्पादन-क्षमता ही समाप्त हो जायेगी।

आधुनिक पाश्चात्य संस्कृति मुख्यतः भौतिकवादी एवं भोग-प्रधान होने के कारण सृष्टि में मनुष्य प्राणी ही सबसे मुख्य मान लिया गया है। मानवेतर सृष्टि केवल उसकी सुख-सुविधा के लिये है, प्रकृति पर विजय (Conquest of Nature) पाकर मानव उसे अपनी सेवा में जोत लेता है, ऐसी पाश्चात्य संस्कृति की भूमिका है। भारतीय संस्कृति ने यह बात मानी है कि मानव-जीवन तथा उसके विकास में प्रकृति का योगदान बहुत बड़ा है। किन्तु प्रकृति से युद्ध कर, उसे हतबल कर, उसका शोषण करें, ऐसी उसकी भूमिका नहीं। भारतीय चिन्तन की भूमिका यह है कि प्रकृति का शोषण नहीं, दोहन कर मानव अपना विकास करे, प्राकृतिक सम्पदा का पोषण एवं संवर्धन करे तथा प्रकृति मानव का पालन-पोषण और संवर्धन करे। यह भूमिका परस्पर पूरकता की है, संघर्ष की नहीं।"

किन्तु भारतीय संस्कृति की यह भूमिका केवल उपयोगितावाद से निकली बुद्धिमानी न होकर आत्मीयता के बढ़ते जाने वाले स्तरों की एक विलोभनीय अभिव्यक्ति है। भारतीय संस्कृति ने मानवेतर सृष्टि को अपने परिवार में समा लिया है। त्यौहार, उत्सव, धार्मिक विधि, साहित्य आदि बातों में इस मानवेतर सृष्टि को उसने सम्मान का एवं आत्मीयता का स्थान दिया है। नमूने के लिये कुछ उदाहरण देखने योग्य हैं। हमारे यहाँ परमात्मा के दस प्रमुख अवतार माने गये हैं। इनमें से पहले तीन

अवतार मत्स्य, कूर्म, वराह मानवेतर प्राणियों के रूप में हैं। चौथा नरसिंह आधा नर और आधा सिंह है। विविध देवताओं के वाहन भी इस परिप्रेक्ष्य में निरीक्षण के योग्य हैं। निर्गुण के मूल आरम्भ और साथ ही 'सभी गुणों के ईश' विघ्नहर्ता गणेश का वाहन चूहा है। लम्बोदर गणेश मूषकध्वज हैं, और उनके पिता शंकर जी नन्दी बैल पर आरूढ़ हैं। परिपाटी यही है कि पहले नन्दी को नमन किये बिना शंकर जी के मंदिर में प्रवेश नहीं करना चाहिए। महादुर्गा सिंह पर आरूढ़ हैं। वागीश्वरी सरस्वती हंस-वाहिनी हैं। भक्तवत्सल भगवान विष्णु भक्तों की गुहार सुनने गरुड़ पर बैठकर आते हैं। देवताओं के साथ मानव-परिवार में सम्मिलित होने वाला गरुड़ अकेला पक्षी नहीं है। अन्य पक्षी भी हैं। छोटे बच्चों का कथा-संसार 'एक था कौआ, एक थी चिड़िया' वाली कहानी से प्रारम्भ होता है। भारत का राष्ट्रीय पक्षी होने का गौरव अब मोर को प्राप्त हुआ है। किन्तु भारतीय संस्कृति के बाल-विश्व में कौआ तो कब का आसन जमा बैठा है।

"कौए आ, चिड़िया आ, दाना खा, पानी पी।
मुन्ने के सिर पर कर पीं-पीं।।"

इस प्रकार कौओं और चिड़ियों को हमने नन्हें-मुन्नों का मित्र बना दिया है। मनुष्य के मरने के बाद उसे सद्गति प्राप्त हुई है या नहीं, यह बात उसके पिंड को कौआ स्पर्श करता है या नहीं, इसी से जानी जाती है। शरीर से काला, सब प्रकार के अभक्ष्य पदार्थ खाने वाला यह कौआ! किन्तु भारतीय संस्कृति ने उसे भी अपने में इस प्रकार समा लिया है।

और वनस्पति-सृष्टि? वह भी पीछे नहीं है। भारतीय संस्कृति में परमात्मा भक्तिभाव से समर्पित "पत्रं पुष्पं फलं तोय" से प्रसन्न होने वाले हैं। शंकर जी को बेलपत्ती प्रिय है, गणेश जी को दूर्वा, विष्णु को तुलसी। सारी द्वारिका के मणि-मौक्तिक आभूषणों से श्रीकृष्ण की तुला पूरी नहीं हो सकी थी, वह रुक्मिणी के एक तुलसी-पत्र से पूरी हो गयी। यहाँ बरगद और पीपल के व्रतबंध हैं, शमी का पूजन है और तुलसी का विवाह भी है। पूजा के लिए सुपारी आवश्यक होती है, नारियल लगता

है। नीराजना या आरती के दीप के लिए कपास की बत्ती आवश्यक होती है। मंगल-प्रसंग के अवसर पर अशोक या आम की टहनियों का वन्दनवार लगाया जाता है।

यहाँ भूमि भी भोग-भूमि न होकर, धर्म-भूमि, पुण्य-भूमि, वत्सला भूमि है, वह भूमि माता है। नदियाँ केवल पीने के लिये या ख़ेती के लिये पानी देने वाली जनवाहिनियाँ न होकर, लोकमाताएँ हैं। गांय केवल उपयोगी पशु न होकर यहाँ गौमाता है। ये सारे मानो जगज्जननी के विविध रूप हैं। इस प्रकार, प्रकृति की ओर देखने की भारतीय संस्कृति की दृष्टि भोग-वासना से सनी नहीं है, बल्कि अगाध भक्ति-भावना और आत्मीयता से ओतप्रोत है।

और आकाश के ग्रह तथा तारे? इन ग्रह-नक्षत्रों के भ्रमण से मानव-जीवन पर इष्ट और अनिष्ट परिणाम क्या-क्या होते हैं, इसका विज्ञान भी हमारे यहाँ पर्याप्त उन्नत हुआ है। प्रकृति-शास्त्रों में ज्योतिष शास्त्र का भी समावेश है। किन्तु अभी यहाँ वह इस संदर्भ में हमें अभिप्रेत नहीं। "सूर्य आत्मा जगतस्त स्थुषः" अर्थात् सूर्य सारे विश्व की आत्मा है, ऐसा यहाँ माना गया है। ऐसे सूर्य को अर्ध्य प्रदान करना यहाँ का नित्य-नियम है। रथ-सप्तमी के दिन दोपहर में सूर्य को शर्करा-मिश्रित दूध का भोग चढ़ाया जाता है; आश्विनी पूर्णिमा की रात में चन्द्र को इसी प्रकार दूध का भोग चढ़ाया जाता है और चन्द्रमा वनस्पति का अधिपति होने के कारण उस भोग को स्वीकार कर उसमें अमृत-सिंचन करता है, ऐसी हमारे यहाँ मान्यता है। विज्ञान की सहायता से मनुष्य अब चन्द्रमा पर पहुँच गया है और वहाँ के कंकड़-पत्थर बीन कर लाने लगा है, किन्तु शरद-पूर्णिमा का पूर्ण चन्द्रमा चाँदनी के साथ इस भूमि के 'अमृत-पुत्रों' के लिये अमृत की वर्षा भी करता है, यह धारणा इस विज्ञान की उपलब्धि से सौ गुनी अधिक मनोहारी है। चन्द्रमा को हमारी भारतीय संस्कृति ने चन्दामामा बनाकर उसे अपने आप्तजनों में लाकर बैठाया है। जिन बहिनों का अपना कोई भाई नहीं होता, वे सब भैयादूज के दिन हमारी संस्कृति द्वारा दिये गये इस चन्द्रमा को ही अपना भाई मानती हैं और माँ के भाई के रूप में अपने नन्हे मुन्नों को उसका

परिचय चन्दामामा कहकर करवाती हैं।

मनि मौसी, लोकमाता, गंगामाता, भूमाता..... कितने उदाहरण हैं! एकात्मता की यह जीती-जागती अनुभूति और यह बोध व्यक्ति, परिवार, राष्ट्र के चढ़ते क्रम से समस्त मानव-समूह को अपने में समा लेता है। किन्तु यहीं तक संतोष न मानकर वह मानवेतर प्राणि-सृष्टि को भी अपनी कक्षा में समा लेता है तथा सबके आदिकारण परमेष्ठी की दिशा में उड़ान भरता है। एकात्म दर्शन की उड़ान ऐसी उत्तुंग है, एक व्यष्टि से लेकर परमेष्ठी तक।

○○

10

एकात्म दर्शन

यहाँ हमने एकात्म मानव-दर्शन के महत्त्वपूर्ण पहलुओं का विवेचन और विश्लेषण किया। उससे पहले, प्रारम्भ में कुछ प्रमुख पाश्चात्य विचारधाराओं का भी विश्लेषण किया था। इन दोनों की कतिपय विशेषताओं का तुलनात्मक पुनर्निरीक्षण करें तो एकात्म दर्शन की श्रेष्ठता अधिक स्पष्ट हो जायेगी।

पाश्चात्य विचारधाराओं में एक विशेषता यह है कि लगभग सभी विचारधाराएँ प्रतिक्रिया के रूप में उदित हुई। रोम के धर्मपीठ के एकाधिकारवाद की प्रतिक्रिया के रूप में यूरोप में राष्ट्रवाद का उदय हुआ। निरंकुश अत्याचारी सामंतशाही की प्रतिक्रिया के रूप में लोकतंत्र का उदय हुआ और लोकतंत्र की उंगली पकड़कर पैदा हुए पूँजीवाद की प्रतिक्रिया के रूप में समाजवाद तथा कम्युनिज्म का जन्म हुआ।

प्राय: प्रतिक्रिया तथा संघर्ष, कन्धे से कन्धा मिलाकर ही चलते हैं। प्रतिक्रियाएँ पोप की एकाधिकारशाही के विरुद्ध उत्पन्न हुई हों या निरंकुश सामंतशाही अथवा पूँजीवाद के विरोध में क्रान्ति के रूप में पैदा हुई हों, उनसे उत्पन्न हुए संघर्ष अपने साथ रक्त-पात को भी लेकर आये हैं। हो सकता है कि विशिष्ट परिस्थिति में संघर्ष कुछ मात्रा में अपरिहार्य रहा हो, किन्तु आगे चलकर इसी संघर्ष का एक दर्शन साकार हो बैठा। प्रतिक्रिया एवं संघर्ष की मालिका को कैसे दूर किया जाये,

इसका विचार करने के बजाय यह सिद्धान्त सामने आया कि संघर्ष विकास की प्रक्रियाओं में अपरिहार्य होता है। जिसे एक आपद्धर्म माना जा सकता है, उसे ही शाश्वत धर्म या कालजयी सिद्धांत एवं दर्शन की प्रतिष्ठा दे दी गयी। इस सिद्धांत का मुख्य सूत्र यह है कि मानव का विकास संघर्ष से ही होता आया है। डार्विन ने प्राणिशास्त्र का, हेगेल ने दर्शन का, मार्क्स ने इतिहास का सारा विश्लेषण इसी आधार पर किया है। पूँजीवाद अर्थशास्त्र स्पर्धा एवं विकास के सिद्धांत को ही ध्रुव सत्य तथा शास्त्रीय सिद्धांत मानता है। पूँजीवाद-विरोधी संघर्ष को संगठित रूप देकर क्रान्ति की सहायता से एक वर्ग को नष्ट करते हुए वर्ग-विहीन समाज-रचना लाने का स्वप्न आँखों के सम्मुख रखकर कम्युनिज्म ने अपने पग आगे बढ़ाये हैं।

इस संगठित पृष्ठभूमि में एकात्म मानव दर्शन का महत्त्व विशेष रूप से ध्यान में आता है कि यह दर्शन किसी विशिष्ट काल के विशिष्ट विचारों, घटना, परिस्थिति या वाद की प्रतिक्रियाओं के रूप में उदित नहीं हुआ है। फलस्वरूप प्रतिक्रिया से पैदा हुई विचारधाराओं में जो एकांगिता होती है, जो दुराग्रह तथा असहिष्णुता होती है, इन सबसे यह दर्शन मुक्त है। यह दर्शन पूर्णतः भावात्मक तथा रचनात्मक दर्शन है। संघर्ष से जीवन का विकास करने के सिद्धान्त की विशेषता को स्पष्ट करते हुए पंडित दीनदयाल जी कहते हैं -

"मानव का स्वभाव सचमुच ही संघर्ष का हो, उसकी प्रत्येक कृति की प्रेरणा दूसरे को निगल कर स्वयं जीने की हो, तो हम उसे दूसरों के लिए जीना या दूसरों को प्यार करना नहीं सिखा सकेंगे। ऐसी अवस्था में प्रेम और सहयोग की भावना पैदा हुई भी, तो वह एक प्रबल शत्रु के सामने अपनी दुर्बलता एवं पराजय की भावना में से ही होगी। किन्तु ऐसा आधार तात्कालिक ही रहेगा। उसके परिणामस्वरूप मनुष्य में सद्भावना, त्याग, सेवा, सहिष्णुता, परोपकार आदि जिन गुणों की निर्मिति होगी, वह केवल एक नीति के रूप में ही रहेगी। वे गुण मानव के या समाज-जीवन के अंग नहीं बन सकेंगे। संघर्ष की भूमिका से स्वेच्छापूर्वक एवं चिरस्थायी सहयोग की सम्भावना कभी निर्मित नहीं की

जा सकती।

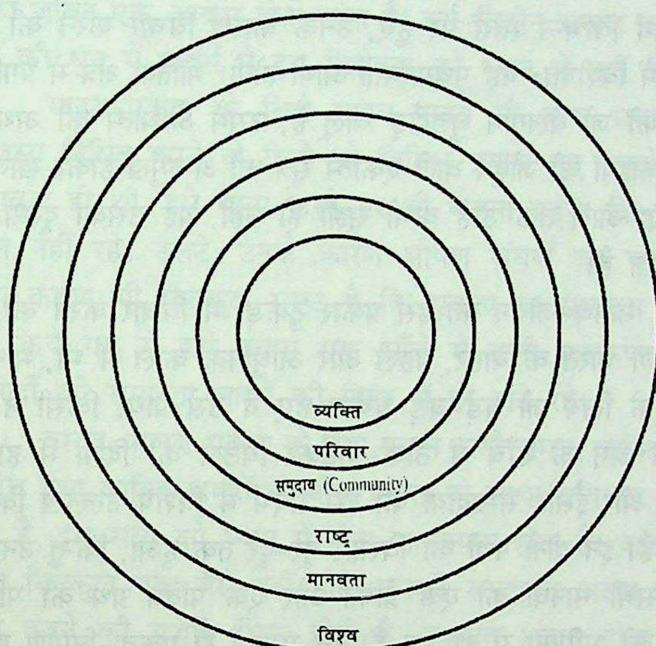
संसार में जहाँ हम स्नेह, सहकार, सहिष्णुता देखते हैं, वहीं असिहष्णुता, वैर और संघर्ष भी पाते हैं। किन्तु असहिष्णुता, वैर या संघर्ष को हम अपने जीवन की आधारभूत प्रवृत्ति नहीं मानते। यह संसार संघर्ष के नहीं, सहयोग के आधार पर ही टिका है। हम विकासवादी हैं तो सृष्टि के इस नियम को स्वीकार करना होगा। असहिष्णुता, वैर और संघर्ष के स्थान पर परस्परावलंबन, परस्परानुकूलता, परस्पर पूरकता और सहयोग की भूमिका से जीवन के सभी कार्यकलापों का विश्लेषण करना होगा और उसकी भावात्मक दिशा निर्धारित करनी होगी।"

पाश्चात्य विचारधाराओं की दूसरी विशेषता यह है कि उन्होंने सम्पूर्ण एवं एकात्म मानव का विचार करने के स्थान पर समय-समय पर मानव-जीवन के किसी एक पक्ष का विचार किया है। जहाँ लोकतंत्रीय आंदोलन हुआ, वहाँ मनुष्य का विचार एक राजनीतिक प्राणी (Political animal) के रूप में किया गया। पूँजीवाद ने उसका विचार केवल अर्थपरायण व्यक्ति के रूप में किया। मार्क्स ने भी मानव-जीवन का विचार केवल आर्थिक हितसंबंधों के दृष्टिकोण से ही किया। मानव-जीवन का विचार इस प्रकार टुकड़ों-टुकड़ों में करने की प्रणाली के कारण ही समाज-हित को सामने रखकर सामने आये अच्छे विचारों में भी सामंजस्य निर्मित करने में इन विचारधाराओं को सफलता नहीं मिली। फ्रांसीसी राज्य-क्रान्ति ने स्वातंत्र्य, समता एवं बन्धुत्व की जो त्रिसूत्री उद्घोषित की थी, उसकी परिणति देखने पर इस निवेदन की सच्चाई स्पष्ट हो जायेगी। जीवन में एक दूसरे के साथ घनिष्ठता से जुड़ी एवं एक दूसरे पर प्रभाव डालने वाली बातों का विचार या अध्ययन उनमें से एक-एक बात को अलग करके करना, उसे सर्वथा स्वतंत्र मानना, और फिर उसके आधार पर समाज जीवन का कोई निष्कर्ष निकालना शास्त्रीय दृष्टि से शायद सुविधा का हो, किन्तु ऐसी पद्धति से जो निष्कर्ष निकाले जाते हैं वे सही एवं उपयुक्त नहीं हुआ करते। पंडित दीनदयाल जी ने एक स्थान पर ठीक ही कहा था कि पाश्चात्य लोगों के सामने जो अनेक बड़ी समस्याएँ आयीं उनका प्रमुख कारण यह था

कि जीवन का विचार उन्होंने टुकड़ों-टुकड़ों में किया और फिर इन टुकड़ों को जोड़कर खड़ा करने का प्रयास किया।

केवल व्यक्ति-जीवन के ही नहीं, समष्टि-जीवन के परिवार, राष्ट्र, विश्वमानव आदि बृहत् घटकों का भी विचार पाश्चात्य लोगों ने पृथक-पृथक ही किया है। यह सही है कि इन सभी इकाइयों का उन्होंने सूक्ष्मता से अध्ययन किया है, किन्तु बाहर से अलग-अलग दिखाई देने वाली इन इकाइयों को जोड़ने वाली जो एक सुदृढ़ आन्तरिक कड़ी होती है, उसका विचार ही नहीं किया। उदाहरण के लिए-व्यक्ति के बारे में विचार करते समय उन्होंने मनुष्य के शरीर, मन, बुद्धि के बारे में पर्याप्त विचार किया है। किन्तु इस प्रकार विचार करते समय व्यक्ति परिवार, राष्ट्र, मानव-जाति, मानवेतर सृष्टि आदि बृहत्तर इकाइयों का ही एक अंगभूत घटक है, इस विशेशता को उन्होंने ध्यान में नहीं लिया। परिवार के विरुद्ध व्यक्ति, एक राष्ट्र के विरुद्ध दूसरा राष्ट्र, विश्व-मानवता के विरुद्ध राष्ट्रवाद, प्रकृति के विरुद्ध मानव, ऐसे संघर्ष हांते रहे और आज भी चल रहे हैं। उसका प्रमुख कारण इस एकात्म-सूत्र के बोध का अभाव ही है।

पाश्चात्यों की विचारधारा संकेन्द्री वृत्त समूहों की एक आकृति से स्पष्ट की जा सकती है। इस आकृति में केन्द्र-स्थान में एक बिन्दु है। इस बिन्दु को ही हम व्यक्ति मानें। इस बिन्दु के चारों ओर एक वृत्त है, यह है परिवारचक्र। इस चक्र के बाहर उससे बड़ा एक और चक्र है। यह चक्र है व्यक्ति के जातीय समुदाय (Community) का। इसी क्रम से आगे चलकर राष्ट्र का, उससे आगे विश्व-मानव का, ऐसे कई चक्र बनाये गये हैं।



संकेन्द्री रचना

इस संकेन्द्री रचना में व्यक्ति केन्द्र-बिन्दु है और उसे केन्द्र मानकर ही क्रमशः बढ़ती जाने वाली त्रिज्याओं के वृत्त रचे गये हैं। इससे स्पष्ट होगा कि परिवार, जाति, राष्ट्र, विश्व-मानव आदि इकाइयों का विचार व्यक्ति को केन्द्र-बिन्दु मानकर ही उन्होंने किया है। किन्तु इस रचना का और उसमें निहित विचार-प्रणाली का दोष यह है कि सभी वृत्त यद्यपि संकेन्द्री हैं, तो भी एक दूसरे से विलग हैं। ये वृत्त अधिकाधिक व्यापक होते जाने वाले हैं, यह उन्हें भी मान्य है। किन्तु उनके एक-दूसरे के साथ आन्तरिक सम्बन्ध हैं, वे सर्वथा विलग वृत्त नहीं हो सकते, प्रत्युत् मानव के अन्तःकरण में दूसरों के प्रति रहने वाली आत्मीयता के विकास के ही वे बढ़ते चरण हैं, इस बात को उन्होंने ध्यान में नहीं लिया। समाज-निर्माण के संबंध में उनकी 'सोशल काण्ट्रैक्ट थ्योरी' तथा विगत पाँच सौ वर्षों में पोपशाही के विरुद्ध राष्ट्रीय

चर्च, सामंतशाही के विरुद्ध लोकतंत्र, पूँजीवाद के विरुद्ध समाजवाद जैसे जो संघर्ष विभिन्न स्तरों पर हुए, उनके कारण विचार करने की उनकी पद्धति में विशेषतः यह पृथगात्मता आयी होगी। भौतिक क्षेत्र में प्रगति और प्रभुत्ता की जो बेलगाम घुड़दौड़ चालू है, उसमें अध्यात्म की अथवा इन सभी इकाइयों को जोड़ने वाले एकात्म सूत्र की अन्तर्मुख होकर खोज करने की बुद्धि आज तक उन्हें कभी सूझी ही नहीं, यह उसका दूसरा कारण हो सकता है।

मानव-जीवन का इस प्रकार टुकड़ों में विचार करने की पद्धति के कारण भारत के बाहर, पहले और आधुनिक काल में भी, मानव की एकता के लिये जो बड़े-बड़े प्रयास हुए वे उसे प्रायः किसी न किसी एक ही अंग के ढाँचे में ठोक-पीटकर बिठाने की दिशा में होते रहे। इस्लाम और ईसाई सम्प्रदायों का इस संदर्भ में विशेष उल्लेख किया जा सकता है। इन दोनों पंथों का विस्तार दूर-दूर तक हुआ, किन्तु उनके सारे प्रयास सभी मानवों को एक प्रेषित और एक पवित्र ग्रंथ की परिधि में बिठाने की भूमिका में ही हुए हैं। इन प्रयासों से एकता-निर्माण होने का आभास तो हुआ, किन्तु वह अन्त में केवल एक मृग-मरीचिका ही रही।

अर्वाचीन काल में मानव-एकता की दिशा में जो प्रयास हुए, उनमें मार्क्स के दर्शन का विशेष उल्लेख करना होगा। मार्क्स के सामने पूँजीवााद के कोल्हू में निचोड़ा जाने वाला शोषित वर्ग था। राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक भेद नष्ट कर वर्ग-विहीन समाज-रचना खड़ी करने का स्वप्न मार्क्स के सामने था। No nation, no religion, no private property, no marriage, no family - (न राष्ट्र, न धर्म, न निजी सम्पत्ति, न विवाह, न परिवार) के पाँच सूत्रों पर मार्क्स अपने सपनों के 'वर्ग-विहीन समाज' की रचना करना चाहता था।

वस्तुतः सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक बातों के अतिरिक्त अन्य कई बातें ऐसी होती हैं जिनका प्रभाव व्यक्ति के जीवन पर पड़ता है। उदाहरण के लिये उसका एक परिवार होता है, धर्म होता है, कुछ श्रद्धास्थान होते हैं। उसका एक देश होता है, देश का इतिहास होता है, कुछ परम्पराएँ होती हैं, शत्रु-मित्र होते हैं, और इन सब बातों के उसके

जीवन पर विविध प्रकार से परिणाम होते रहते हैं। इन्हीं सब बातों से उसका जीवन एक आकार लेता रहता है। वर्ग-विहीन समाज का निर्माण करने की धुन में मार्क्स ने इस विशेषता को ध्यान में नहीं लिया।

मानव-एकता के लिये मानव-मानव के बीच समानता एवं सामंजस्य निर्मित करने के लिये जो विविध प्रयास हुए उनके मूल में सद्भावना ही थी, इसे मान्य करने पर भी कहना पड़ेगा कि ये प्रयास सफल नहीं रहे। उलटे, उनके कारण भीषण संघर्षों का जन्म हुआ। इसका कारण भी बिल्कुल स्पष्ट है कि एकता या समानता लाने के लिये किये गये ये सारे प्रयास एक साँचे में ढली एकरूपता अथवा अंधेरगर्दी की समानता लादने की दिशा में ही होते रहे।

वस्तुतः मानव-एकता के लिए प्रयत्न करते समय, व्यक्ति-व्यक्ति के बीच तथा व्यक्ति-समूहों के बीच एकता के साथ विविधता भी हुआ करती है, इस सत्य को ध्यान में लेना आवश्यक होता है। कोई भी दो व्यक्ति बिल्कुल एक जैसे नहीं होते। उनकी रूपाकृति अलग होती है, विचार करने की पद्धति भिन्न होती है, स्वभाव अलग होता है और रुचि-अरुचि भी भिन्न होती है।

व्यक्ति की भाँति, परिवार तथा राष्ट्र का भी अपना एक स्वतंत्र व्यक्तित्व होता है। उदाहरण के लिए परिवार में एक कुलदेवता होता है, कुछ परिवार-धर्म होता है तथा उसकी परम्परा होती है। राष्ट्र का विचार करने पर दिखाई देगा कि राष्ट्र का भी अपना इतिहास होता है, भूगोल होता है, कुछ परम्पराएँ होती हैं एवं जीवन के कुछ आदर्श होते हैं। इन सब के कारण उस राष्ट्र की अन्य राष्ट्रों में अलग पहचान बनती है।

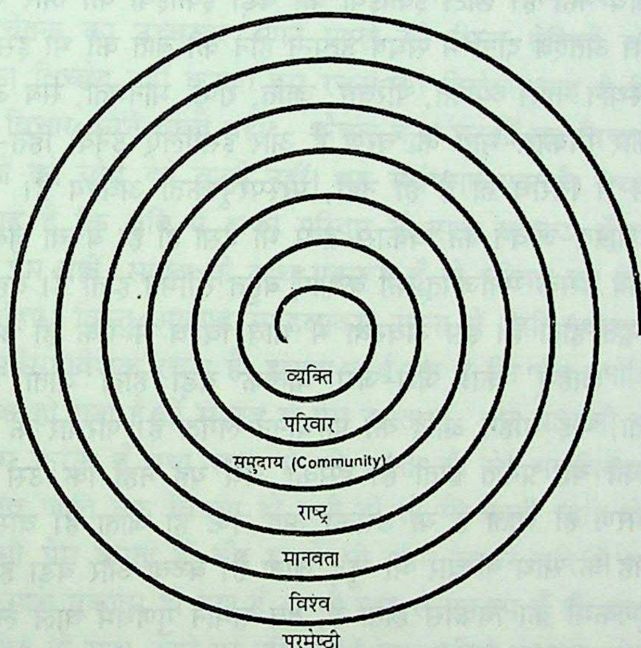
सारांश, व्यक्ति, परिवार, राष्ट्र आदि विविध वृत्तों में हरेक वृत्त का अपना एक गुणधर्म होता है, एक क्षेत्र होता है और अंगभूत सामर्थ्य भी होता है। एकता के लिए प्रयत्न करते समय इस विशेषता को ध्यान में लेना ही होगा। प्रत्येक वृत्त अपनी विशेषताओं को संजोये रखकर अन्य वृत्तों के लिए पूरक बने, इस दृष्टिकोण से विचार करने पर ही सच्ची एकता का निर्माण किया जा सकता है। 'विविधता का विचार ही न करते हुए उसे समाप्त कर एकता के लिए एक साँचे में ढालकर

एकरूपता लाने का प्रयास किया गया तो एकता के बजाय कटुता और संघर्ष का ही निर्माण होगा। इस्लाम, ईसाईयत और कम्युनिज्म का रक्तरंजित इतिहास इसका साक्षी है।

मानव-एकता का विचार भारतीय संस्कृति ने ही किया है। केवल मानव-एकता का ही नहीं, सम्पूर्ण प्राणि-मात्र तथा चराचर सृष्टि की एकता का भी विचार किया है। किन्तु यह विचार पृथगात्मकता की भूमिका से नहीं, विविधता के मूल में विद्यमान एकता के आधार पर किया है। इस संसार में ऊपर से कितनी ही विविधता दिखाई देती हों, उस विविधता के मूल में एकता है और सृष्टि की विविधता उसकी आन्तरिक एकता की ही अभिव्यक्ति है, यह भारतीय संस्कृति का मुख्य विचार है। विविधता से विभूषित समस्त सृष्टि में एक ही चैतन्य-तत्त्व समाया है। यही इस विविधता में एकता का प्रमुख सूत्र है। एकता के इस सूत्र को ध्यान में रखकर इस आन्तरिक एकता की अनेकरूपी अभिव्यक्ति में रहने वाली परस्पर पूरकता को पहचानते हुए मनुष्यों पर इस परस्परानुकूलता के संस्कार करना तथा उस एकता को दृढ़तर बनाना ही सच्ची संस्कृति है। भारतीय संस्कृति एकात्मवादी है, इस निवेदन का आशय इतना व्यापक है।

एकात्म जीवन के संबंध में भारतीय संस्कृति की इस धारणा को किसी आकृति द्वारा स्पष्ट करना हो तो वह इस आकृति द्वारा की जा सकती है। इस रचना को कुण्डलिन, सर्पिल या अखण्ड मंडलाकार रचना की संज्ञा दी गयी है। इसमें प्रत्येक मण्डल उसके आगे तथा पीछे के मण्डल से संबंध रखकर ही विकसित होता है। इस रचना का भी प्रारम्भ व्यक्ति से होता है। किन्तु यह व्यक्ति केवल भौतिक सुख या अर्थ-काम के पीछे लगा न रहकर धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, इन चारों पुरुषार्थों का अर्थात् समग्र और सर्वांगीण जीवन का विचार करने वाला होता है। साथ ही इन पुरुषार्थों की सिद्धि के लिये निरंतर प्रयत्नशील रहता है। व्यक्ति के बाद अगला मण्डल परिवार का है। परिवार का मण्डल व्यक्ति से प्रारम्भ होता है, किन्तु उसका संबंध न छोड़ते हुए उसके चारों ओर विकसित होता हुआ आगे बढ़ता है और जातिमण्डल

का सूत्रपात करता है। जातिमण्डल विकसित होकर आगे चलकर राष्ट्रमण्डल में परिणत होता है, और इसी क्रम में आगे बढ़ता हुआ सम्पूर्ण मानव-समूह का तथा विश्व का मण्डल तैयार होता है।



अंखड मंडलाकार रचना

किन्तु भारतीय चिन्तन यहीं पर नहीं रुकता। इस चिंतन ने इसके भी आगे के एक मण्डल का विचार किया है। वह मण्डल है परमेष्ठी तत्त्व का मण्डल। यह मण्डल उससे पहले के सभी मण्डलों को अपने में समा लेता है। यही नहीं, उनमें स्वयं भी व्याप्त रहता है। कारण यह है कि परमेष्ठी तत्त्व सर्वातीत है तथा सर्वव्यापी, सर्वान्तर्यामी और सर्वमय भी है। यह सर्वान्तर्यामी, सर्वव्यापी परमतत्त्व एकात्म मानव दर्शन की आत्मा है।

इस अखण्ड मण्डलाकार आकृति में एक इकाई में से दूसरी इकाई निकलती है, दूसरी से तीसरी, तीसरी से चौथी और इस प्रकार

यह प्रक्रिया अंत तक चलती रहती है। यह हरेक इकाई का उत्तरोत्तर विकास होते जाने की प्रक्रिया होने के कारण इसमें अधिकाधिक व्यापकता और विशालता है तथा इन इकाइयों के हित-संबंधों में परस्पर कोई विरोध नहीं है। छोटी इकाइयों की बड़ी इकाइयों की ओर घेराबंदी नहीं होती। अतएव दोनों में संघर्ष उत्पन्न होने की बात को भी इस रचना में कोई स्थान नहीं। व्यक्ति, परिवार, जाति, राष्ट्र, मानवता, सब अखण्ड मण्डलाकार विकास-मार्ग के चरण हैं और इसीलिए उनके हित-संबंधों में आपस में विरोध तो है ही नहीं, परस्परपूरकता अवश्य है।

मानव-जीवन का विकास-क्रम भी ऐसा ही है। बच्चा जब छोटा होता है तब उसके मनोजगत् की कक्षाएँ बहुत सीमित होती हैं। वह प्राय: आत्मकेन्द्रित होता है। इस अवस्था में भाव-विश्व में एक ही अस्तित्व होता है- 'अहम्' का। जैसे-जैसे बालक बड़ा होता जाता है वह माता-पिता, भाई-बहिन आदि को पहचानने लगता है। परिवार के घटकों तक उसकी यह प्रगति होती है। इसका अर्थ यह नहीं कि उसे 'अहं' का विस्मरण हो जाता है या उसका अहं नष्ट हो जाता है। वास्तव में उसके अहं के साथ परिवार भी जुड़ जाता है। बच्चा और बड़ा होता है। उसके गुणकर्मों का विकास होता है, तब समान गुणधर्म वाले लोगों से उसके संबंध निर्मित होते हैं। उनके साथ वह एकात्म हो जाता है। समान गुण-शील-कर्म के समूह के सुख-दुख का भी वह विचार करने लगता है। मैं सत्य हूँ, मेरा परिवार सत्य है, मेरी जाति या समुदाय भी सत्य है, इस क्रम से विकास करते हुए वह सोचने लगता है कि केवल मेरी जाति या समुदाय ही नहीं, यह सम्पूर्ण राष्ट्र ही मेरा है। मैं इस राष्ट्र का घटक हूँ और राष्ट्र मेरा ही बृहत्तर रूप है। धीरे-धीरे वह 'स्वदेशो भुवनत्रयम्' की भूमिका से समूचे मानव-समाज का विचार करने लगता है और अंत में उससे भी आगे जाकर चराचर सृष्टि के साथ तादात्म्य पा जाता है।

आत्मकेन्द्रित शैशवावस्था से प्रारम्भ करके विश्व-मानव तक के इस प्रदीर्घ प्रवास का वर्णन करते समय श्री दत्तोपंत ठेंगड़ी ने कहा है - "परिवार से लेकर सम्पूर्ण विश्व तक विभिन्न संस्थाओं में मनुष्य

का जो रूप हम देखते हैं वह वस्तुतः उसकी आत्म-चेतना के विकास का बाह्य रूप ही होता है। व्यक्ति की चेतना जितनी उन्नत होगी, उतनी मात्रा में व्यक्ति के साथ संबंध रखने वाली वह संस्था व्यापक एवं उच्चस्तरीय होती जायेगी। किन्तु चूँकि यह प्रक्रिया आत्मपरक विकास की है, चेतना का उच्चस्तर अपने पहले की भिन्न श्रेणियों के साथ संबंधों का विच्छेद नहीं करता। इस रचना की विशेषता यह है कि यह पृथगात्म विचार करने वाली नहीं - केवल कुछ घटकों का विचार करते हुए अन्यों को छोड़ देने वाली नहीं। वह सर्वसमावेशक है। पृथक् का आशय यह है कि यदि मैं अपने परिवार के साथ एकरूप हूँ तो मेरा अपने से प्रेम नहीं, समाज के साथ एकरूप हूँ तो परिवार का तिरस्कार करना चाहिए। किन्तु अखण्ड मण्डलाकार रचना में ऐसी पृथक्ता नहीं है। वह सर्वसमावेशक रचना है। इसका अर्थ यह है कि मेरा मनोविकास समाज तक हो गया है तो समाज से प्रेम करता हूँ, और साथ ही परिवार से भी प्रेम करता हूँ तथा स्वयं से भी करता हूँ। मेरे मनोविकास की कक्षा मानव जाति तक विस्तृत हो गयी हो तो मैं अपनी जाति से तथा राष्ट्र से भी प्रेम करता हूँ और इससे भी आगे जाकर यदि मैं चराचर विश्व के साथ एकात्म हो गया हूँ तो भी राष्ट्र से एकात्म हूँ ही। एक स्तर पर मैं व्यक्ति के साथ, दूसरे पर परिवार के साथ, तीसरे पर राष्ट्र के साथ, आगे चलकर सम्पूर्ण मानव जाति के साथ और उसके बाद चराचर सृष्टि एवं अंत में परमेष्ठी के साथ अर्थात् सबके साथ एक ही समय एकरूप रह सकता हूँ।

अब यह सम्पूर्ण दर्शन तुरन्त सबकी समझ में आ जाये और वे उसे जीवन में भी उतार सकें, यह असम्भव है। इसीलिए सम्पूर्ण दर्शन को सामने रखते हुए भी उसका ज्ञान और अनुभूति यथाक्रम करना-कराना आवश्यक है। इसी को प्रगमनशील विकास (Progressive Unfoldment) कहते हैं। मूल कल्पना को मन में दृढ़ता से अधिष्ठित करते हुए उसकी क्रमशः अभिव्यक्ति करना ही सर्वथा स्वाभाविक एवं शास्त्रीय है।"



11

यः क्रियावान् स पंण्डितः

वस्तुतः पिछले अध्याय के साथ एकात्म मानव दर्शन का विवेचन पूर्ण हो गया है। ऐसे समय स्वाभाविक रूप से एक प्रश्न उपस्थित होता है कि इस विवेचन का श्रुतिफल क्या है? सौभाग्य से स्वयं पं. दीनदयाल जी ने इसका अपेक्षित उत्तर दे रखा है। वे कहते हैं – "भारतीय एवं भारत के बाहर की विविध विचारधाराओं का सम्यक् विचार करते हुए और उन विचारों के सामर्थ्य एवं दुर्बलताओं को ध्यान में रखकर एकात्म मानव का विचार एक ऐसा मार्ग दिखाता है जो मानव को उसके आज तक के चिंतन, अनुभव एवं सिद्धि, सभी में आगे ले जायेगा।" यह श्रुतिफल ऐसा होना भी सर्वथा स्वाभाविक ही है। कारण, एकात्म मानव का विचार किसी शास्त्रीय प्रमेय का केवल तात्त्विक विवेचन नहीं है। वह प्रत्यक्ष जीवन का दर्शन है। उसका हमारे आचार-विचारों के साथ प्रत्यक्ष संबंध है। किन्तु उसके बारे में मनुष्य को क्या करना चाहिए, क्या नहीं करना चाहिए, इसका मार्गदर्शन नहीं होता। उदाहरण के लिये, अंतरिक्ष में असंख्य ग्रह-नक्षत्र हैं जिनमें हमारी पृथ्वी का भी समावेश है। ये सब गुरुत्वाकर्षण के नियमानुसार अपनी-अपनी कक्षा में भ्रमण करते रहते हैं और मानव-जीवन पर अपना प्रभाव डालते रहते हैं। किन्तु इन नियमों के बारे में मनुष्य को क्या करना चाहिए, क्या नहीं करना चाहिए, इसका बोध नहीं होता। मनुष्य गुरुत्वाकर्षण के इस

नियम को जाने न जाने, माने न माने, उस पर इन ग्रह-नक्षत्रों के परिभ्रमण और उनके होने वाले परिणाम निर्भर नहीं रहते। इसी प्रकार समूची प्राणि-सृष्टि द्वारा छोड़ी जाने वाली कार्बन डाई-ऑक्साइड वायु को वनस्पति अपने पोषण के लिए उपयोग में लाती है और वनस्पति द्वारा मुक्त की गयी प्राणवायु (आक्सीजन) को लेकर प्राणि-सृष्टि अपना जीवन चलाती है। यह प्राकृतिक परस्पर सहयोग का व्यवहार जीवसृष्टि के आदि-काल से चल रहा है। मनुष्य को उसका बोध हो न हो, उसके मन, बुद्धि तथा भाव-विश्व के सारे व्यवहार विज्ञान के नियमों की भाँति कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य से निरपेक्ष नहीं होते। इसीलिए एकात्म मानव-धर्म मानव की कुल प्रगति तथा समूचे सृष्टि-धर्म के साथ सुसंगत होते हुए भी मुख्यतः वह कर्त्तव्यरूप ही है।

इस कर्त्तव्यरूप धर्म का अर्थ है स्वार्थनिरपेक्ष वृत्ति से व्यक्तिगत एवं समष्टिगत चारों पुरुषार्थों के लिये किये जाने वाले नित्य-नैमित्तिक कर्म। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष- चारों पुरुषार्थों की उपासना करते हुए जीवन का सर्वांगीण एवं संतुलित विकास करना इन कर्त्तव्यों के व्यक्तिगत स्तर पर आचरण का सूत्र है और समष्टि का हित आँखों के सम्मुख रखकर, समष्टि के चतुर्विध पुरुषार्थों के लिये पोषक सिद्ध होने वाले ढंग से समाज-जीवन के विविध क्षेत्रों में पूरी शक्ति लगाकर समर्पण-बुद्धि से कार्य करते रहना कर्त्तव्यरूप धर्म के समष्टिस्तरीय व्यवहार का सूत्र है।

क्योंकि यह धर्म कर्त्तव्यरूप है, उसका बोध जगाकर प्रयत्नों एवं संस्कारों के द्वारा उसे स्थिरपद करना होता है। "धर्मो रक्षित रक्षितः" - यह सूत्र एकात्म मानव दर्शन के बारे में भी लागू होता है। कारण यह कि जीवन-दर्शन का काम जीवन के यथार्थ स्वरूप को खोलकर बताना और उसके अनुसार सुख, स्वास्थ्य, उन्नति एवं कृतार्थ जीवन की ओर जाने वाला सही मार्ग कौन सा है, यह दिखाना मात्र है। उस मार्ग पर चलकर उस दर्शन को प्रत्यक्ष जीवन में उतारना अपना-अपना दायित्व है। 'होगा मेरा शंकर, तो दे देगा खटिया पर' - ऐसी अकर्मण्यता या 'होइहैं सोइ जो राम रचि राखा' जैसी दैववादी अनासक्तता के लिये इस

दर्शन में स्थान नहीं। यह यदि-किन्तु के विध्यर्थी प्रयोग वाला ढुलमुल दर्शन नहीं है, अपितु निश्चयार्थी पुरुषार्थ का दर्शन है।

संस्कार-केन्द्रों का चयन

ऐसे निश्चयी पुरुषार्थ के लिये आवश्यक तन, मन तथा बुद्धि की तैयारी मानव जीवन के सर्वांगीण स्वरूप एवं इतिकर्तव्यता के ज्ञान और तदनुरूप नित्य संस्कार के द्वारा की जा सकती है। परिवार संस्था, शिक्षा-संस्था, मंदिर, धार्मिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्रों में कार्य करने वाली संस्थाएँ, संत एवं महान सत्पुरुषों के समागम, उनके चरित्र एवं बोधवचन आदि सब उत्तम संस्कार देने वाले केन्द्र रहे हैं। पवित्र एवं पुरुषार्थी जीवन, भगवद्भक्ति और देशभक्ति के संस्कार देकर व्यक्ति को सही अर्थों में धर्मप्रवण और कर्त्तव्योन्मुख बनाने वाले असंख्य छोटे-बड़े केन्द्र देश भर में आज भी हैं। हो सकता है कि उनमें से कुछ की चेतना तथा कार्यक्षमता, क्षीण हो गयी हो। उन्हें एकात्म मानव दर्शन के बोध-स्पर्श से पुनः चैतन्य बनाकर और आवश्यकतानुसार उनमें युग-धर्म के अनुरूप परिवर्तन करते हुए उनकी कार्य-शक्ति को इस दर्शन की एकात्म अनुभूति की दिशा में प्रवाहित किया जा सकता है। उपयुक्त पुराने केन्द्रों तथा व्यवस्थाओं का कालानुगामी पुनरुज्जीवन करने के साथ-साथ युग के अनुरूप नये केन्द्र भी खड़े करने होंगे। इसी परिप्रेक्ष्य में एक उदाहरण के रूप में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की शाखाओं का उल्लेख किया जा सकता है।

एकात्म मानव दर्शन एक पूरा जीवन-दर्शन है। इसीलिये एक ओर समाज के घटकों को इस दर्शन के सभी अंगों से संस्कारित करते हुए, जीवन के भौतिक अभ्युदय के साथ संबंध रखने वाले राजनीति, अर्थनीति, समाजनीति आदि समाज-जीवन के सभी क्षेत्रों में इस दर्शन के संजीवक संस्कारों को पहुँचाना पड़ेगा। पंडित दीनदयाल जी ने एक स्थान पर कहा है कि कौन से कार्य क्षेत्र में, किस बिन्दु पर कितना बल देना चाहिए यह तो तारतम्य से निर्धारित करना होगा, किन्तु दृष्टि और आक्रमणशीलता सभी मोहरों पर होनी चाहिए।

अर्थात् इन विविध क्षेत्रों में कार्य करते समय इस बात का

निरंतर ध्यान रखना पड़ेगा कि हमारे पग पूर्णतः एवं एकात्म मानव दृष्टि से ही आगे बढ़ रहे हैं। उन सभी क्षेत्रों में हमारी नीतियाँ, कार्यक्रम तथा उपक्रम, मोर्चे, आंदोलन, सबके यश या अपयश का मूल्यांकन इसी एक मापदण्ड से करना होगा। एक भूख को शांत करते समय दूसरी विपरीत भूख का निर्माण न हो, इसकी सावधानी रखनी पड़ेगी। यह पंडित जी द्वारा दी गयी चेतावनी जीवन के विविध क्षेत्रों में इस दर्शन को पहुँचाते समय सदैव ध्यान में रखनी होगी।

साध्य-साधन विवेक

एकात्म मानव दर्शन की भूमिका केवल सर्वेषामविरोधेन ही नहीं, अपितु परस्पर सहयोग, परस्परानुकूलता की हो, तब भी इस दर्शन का मार्ग सर्वथा विरोधशून्य या निष्कंटक होगा ही, ऐसा नहीं कहा जा सकता। इस दर्शन के प्रसार एवं प्रभाव के कारण जिनके संकीर्ण स्वार्थों को आँच पहुँचने की संभावना है, ऐसे सारे लोग पूरी शक्ति से इस दर्शन का विरोध करने के लिये खड़े हो जायेंगे। ऐसी परिस्थिति में संघर्ष अटल हो बैठेगा। किन्तु जैसा कि स्वयं पंडित जी ने कहा है, "ऐसे संघर्ष में होने वाला अपरिहार्य विनाश नव निर्माण के कार्य की दिशा में पहला पग होगा।"

इस दर्शन के विवेचन में समन्वय, संयम, परस्परानुकूलता आदि शब्द विशेष परिप्रेक्ष्य में आते हैं। यह संयम पुरुषार्थी व्यक्ति का तथा पुरुषार्थी समाज का है। संयम का अर्थ असत्य, अन्याय एवं गुण्डाशाही के साथ समझौता करना नहीं, या सौजन्य का अर्थ उद्दंडता की शरण जाना नहीं है। पंडित दीनदयाल जी सौजन्यशील थे, सहिष्णु और संयमी भी थे, किन्तु असत्य और अन्याय के साथ उन्होंने कभी समझौता नहीं किया। उल्टे अन्याय के विरुद्ध समाज को संगठित रूप में खड़ा करने वाला तथा अन्याय को मूल से उखाड़ कर फैंकने वाला पुरुषार्थी व्यक्तित्व उन्हें प्राप्त था। उनकी राजनीति, राष्ट्र-चिंतन, अर्थ-चिंतन आदि सब बातों में आदर्श एवं व्यवहार का यथोचित समन्वय रखने वाला साध्य-साधन विवेक प्रमुखता से दिखाई देता है। एकात्म मानव दर्शन का सही आकलन एवं आचरण करने के लिये उनके व्यक्तित्व

के इन दोनों पक्षों को ध्यान में लेना नितांत आवश्यक है।

एक अर्थ में यह 'योगः कर्मसु कौशलम्' है। पंडित दीनदयाल जी ने इस योग को अपने आचरण में लाकर दिखाया है। उनका समूचा जीवन इस संबंध में दीप-स्तंभ की भाँति मार्गदर्शन करने वाला है। अंग्रेजी में एक कहावत है कि राजनीतिक व्यक्ति आने वाले चुनाव का विचार करता है, किन्तु दूरदर्शी राजनेता आने वाली पीढ़ी के बारे में सोचता है। एक वर्धमान राजनीतिक दल का दायित्व पंडित दीनदयाल जी के कंधों पर था। इसीलिये प्रत्येक चुनाव का विचार करना उनके लिये अपरिहार्य था और उन्होंने वह विचार किया भी। नाना प्रकार के अभियान हाथ में लिये। छोटे-बड़े आंदोलन चलाये, मोर्चे निकाले, सत्याग्रह किये। किन्तु यह सब करते हुए भी पूर्ण एवं एकात्म मानव के लक्ष्य को अपनी आँखों के सामने से उन्होंने कभी हटने नहीं दिया। यही नहीं, एकात्म मानव की तथा इस दर्शन की कल्पना को वे अधिकाधिक सुस्पष्ट तथा परिपूर्ण करते चले गये। कालोचित परिपूर्ण जीवन-दर्शन के रूप में उनका यह समग्र चिंतन हम तक आ पहुँचा है। आधुनिक संभ्रांत विश्व को इस दर्शन की नितांत आश्वश्कता है।

किन्तु किसी भी जीवन-दर्शन की प्रतिष्ठापना, तात्त्विक दृष्टि से वह कितना निर्दोष है, यह दिखाकर अथवा अन्य तथ्यों एवं विचारधाराओं की त्रुटियों को स्पष्ट कर नहीं की जा सकती। उसी प्रकार उस दर्शन के उद्‍गाता तथा उसके कृतित्व के गुणगान करने से भी वह नहीं की जा सकती। उसके लिये परिश्रम एवं पुरुषार्थ कर व्यवहार में उसकी अनुभूति लानी पड़ती है। उस दर्शन के उत्तराधिकारियों और उसके उद्‍गाता के अनुयायी कहलाने वालों पर स्वाभाविक रूप से आने वाला वह एक नैतिक दायित्व होता है।

मुम्बई में अपनी व्याख्यानमाला का समारोप करते समय पंडित दीनदयाल जी ने लगभग यही विचार निम्नानुसार व्यक्त किये थे जिनकी स्मृति आज प्रमुखता से हो आती है। उन्होंने कहा था - "गत चार दिनों में हमने मानवता का समग्र एवं संकलित रूप में विचार किया। हमने यह तात्त्विक विवेचन किया, किन्तु हम पोथी पंडित नहीं हैं। हम लोग

राष्ट्र को बलशाली, समृद्ध एवं सुखी बनाने का संकल्प लेकर चले हैं। इसीलिये इस वैचारिक अधिष्ठान पर हमें राष्ट्र की पुनर्रचना का कार्य करना है। हमने अपनी प्राचीन संस्कृति का विचार किया। किन्तु हम लोग पुराणपंथी नहीं हैं। हमें किसी पुरातत्त्व-संग्रहालय के प्रहरी नहीं बनना है। हमारा लक्ष्य केवल संस्कृति की रक्षा करना ही नहीं, अपितु उसे गतिमान करके कार्यक्षम बनाना भी है।

हमें एक ऐसा भारत बनाना है जो हमारे पूर्वजों के भारत से भी अधिक गौरवशाली हो और यहाँ जन्मा प्रत्येक मनुष्य अपने-अपने व्यक्तित्व का विकास करते हुए केवल सम्पूर्ण मानव जाति के साथ ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण सृष्टि के साथ एकात्मता का साक्षात्कार करता हुआ नर से नारायण बनने के लिये समर्थ हो।

इन सब बातों को ध्यान में रखकर हम चलें तो भारतीय संस्कृति के शाश्वत मूल्यों के साथ ही राष्ट्रीयता, लोकतंत्र, समता एवं जागतिक एकता के आदर्श को समन्वित रूप में हम संसार के सामने रख सकेंगे। इन आदर्शों में, आज दिखाई देने वाला विरोध नष्ट होकर वे परस्पर पूरक बनेंगे और मानव अपने खोये हुए स्वरूप को फिर से प्राप्त कर अपने जीवन के लक्ष्य को प्राप्त कर सकेगा।"



लेखक परिचय

श्री विनायक वासुदेव नेने

'पं. दीनदयाल उपाध्याय - विचार-दर्शन' ग्रन्थ के इस द्वितीय खण्ड में पंडित जी के 'एकात्म मानववाद' की विशद् व्याख्या करने वाले लेखक श्री विनायक वासुदेव उपाख्य राजाभाऊ नेने एक कुशल संगठनकर्ता, चिकित्सक व यशस्वी पत्रकार हैं। विद्यालयीन शिक्षा पूरी करने के अनन्तर 12 वर्ष तक वे गुजरात में रा.स्व. संघ के प्रचारक रहे। श्री गुरुजी के विचार-संकलन 'Bunch of Thoughts' का मराठी अनुवाद 'विचार धन' नाम से उन्होंने ही किया। दीर्घ काल तक बम्बई के मराठी साप्ताहिक 'विवेक' के प्रधान सम्पादक रहे। दीनदयाल जी के 'विचार-दर्शन' पर इस सम्पूर्ण ग्रन्थ की मूल कल्पना श्री नेने की ही है। चार वर्ष तक कठिन परिश्रम करके उन्होंने अन्य लेखकों के सहयोग से यह योजना पूरी की। उनका स्फुट लेखन विपुल मात्रा में है।

हमारे मुख्य प्रकाशन

पुस्तक नाम	लेखक	(पृष्ठ)	मूल्य(रु)
Jihad in India	Dr. K V Paliwal	64	35
Imperialist Character of Islam	Dr. K V Paliwal	60	30
इस्लाम के दो चेहरे	डॉ. के. वी. पालीवाल	92	40
Two Faces of Jihad	Dr K V Paliwal	70	35
Pt Deendayal Upadhyaya - Ideology & Perception (7 Vols.)			
Part -1 AN INQUEST	D B Thengadi	248 PB/HB	110/160
Part -2 INTEGRAL HUMANISM	V V Nene	104 PB/HB	60/100
Part -3 POLITICAL THOUGHT	B K Kelkar	160 PB/HB	80/120
Part-4 INTEGRAL ECONOMIC POLICY	S A Kulkarni	158 PB/HB	80/120
Part -5 CONCEPT OF THE RASHTRA	C P Bhishikar	202 PB/HB	95/130
Part -6 POLITICS FOR NATION's SAKE	B N Jog	160 PB/HB	80/120
Part -7 A PROFILE	V N Deodhar	124 PB/HB	70/110
वेद परिचायिका	डॉ. के वी. पालीवाल	44	30
श्रीगुरुजी – 'एक बहुआयामी व्यक्तित्व'	डॉ. जागेश्वर पटले	420	180
राष्ट्रीय नवोत्थान – स्वामी विवेकानन्द का दिव्य-दर्शन और रा. स्व. संघ की लक्ष्य साधना	के. सूर्य नारायण राव	304	120
हिन्दू नाम की प्राचीनता और विशेषताऐं	स्वामी विज्ञानानन्द	92	40
...और देश बँट गया	हो. वे. शेषाद्रि	400	160
न फूल चढ़े न दीप जले	नीलकंठ देशमुख	208	90
प्राचीन भारत अध्यात्म और विज्ञान	डॉ. ओम प्रभात अग्रवाल	88	50
भारतीय शिक्षा के मूल तत्व	लज्जाराम तोमर	208	90
हिंदू विजय युग प्रवर्तक	हो. वे. शेषाद्रि	321	140
मृत्युंजय भारत	उमाकान्त केशव आपटे	336	140
ज्योति जला निज प्राण की	म. च. वाजपेयी, श्रीधर पराडकर	592	200
वैदिक राष्ट्रीय ऋचाएँ	डॉ. के वी. पालीवाल	76	35
श्री गुरुजी–व्यक्तित्व और कृतित्व	डॉ. कृष्ण कुमार बवेजा	216	90
पॉलिटिकल डायरी	दीनदयाल उपाध्याय	264	100
एकात्म मानव दर्शन	मा.स. गोलवलकर	130	70
भारत परिचय प्रश्न मंच	डॉ. हरिश्चन्द्र बर्थ्वाल	140	80
मनुस्मृति और डॉ. अम्बेडकर	डॉ. के वी. पालीवाल	120	60
परिवार प्रबोधन	संकलित	40	20
हिन्दू प्रतिभा के दर्शन	रवि कुमार	268	120
पुण्यभूमि भारत	जुगल किशोर शर्मा	112	60

पुस्तक नाम	लेखक	(पृष्ठ)	मूल्य(रु)
भारतीय इतिहास का विकृतिकरण	रघुनन्दन प्रसाद शर्मा	124	60
जिहादियों को जन्नत-केवल क़ियामत बाद	डॉ. के वी. पालीवाल	70	40
केशव : संघ निर्माता	सी. पी. भिशिकर	208	90
भारतीय संस्कृति का विश्व संचार	डॉ. शरद हेबालकर	176	75
सच्चा सुख निरोगी काया	रामनारायण पुरी	72	35
कृतिरूप संघ दर्शन	हो. वे. शेषाद्रि	568	200
क्या कहते हैं संघ पर न्यायालय?	अनुवादक : विनोद बजाज	172	75
शाखा सुरभि	संकलित	144	40
भारत एकात्मतास्तोत्र	डॉ. हरिश्चन्द्र बर्थ्वाल	84	10
भारत एकात्मतास्तोत्र व्याख्या (सचित्र)	डॉ. हरिश्चन्द्र बर्थ्वाल	64	90
अमर हिन्दू राष्ट्र	उमाकान्त केशव आपटे	84	35
संघ चिन्तन	उमाकान्त केशव आपटे	81	30
संजीवनी विद्या	उमाकान्त केशव आपटे	74	30
व्यक्ति एवं समाज-चिंतन	उमाकान्त केशव आपटे	104	40
माँ के चरणों में	रंगा हरि	40	20
नमस्ते सदा वत्सले.....	श्री गुरुजी, बाबा साहब आपटे	56	35
श्री गुरुजी – हिन्दू राष्ट्र की अवधारणा	डॉ. जागेश्वर पटले	76	35
राष्ट्रीय सुरक्षा	मोहनराव भागवत (गोष्ठी)	24	17
श्री गुरुजी – एक राष्ट्रवादी संगठक	डॉ. जागेश्वर पटले	76	35
राष्ट्र निर्माण में युवाओं का योगदान	मोहनराव भागवत (गोष्ठी)	32	25
ईसाईयत की असलियत	डॉ. के वी. पालीवाल	52	35
मैं साधारण स्वयंसेवक	मा. स. गोलवलकर	16	15
जिहाद क्या और क्यों?	डॉ. के वी. पालीवाल	100	55
जो शहीद हुए हैं उनकी ज़रा याद करो कुर्बानी	संकलन : विजय कुमार गुप्ता	40	15
विवेक जीवन	डॉ. सुशील गुप्ता	76	35
भारतीय महापुरुषों की दृष्टि में इस्लाम	डॉ. के वी. पालीवाल	72	45
सेवा-व्रत एवं संघ-साधना	एकनाथ रानडे	136	70
प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति	लज्जाराम तोमर	176	75
भारत इस्लामी राज्य की ओर-एक चेतावनी!	डॉ. के वी. पालीवाल	32	20

पुस्तक नाम	लेखक	(पृष्ठ)	मूल्य(रु)
भारतीय मुसलमानों के हिन्दू पूर्वज	पुरूषोत्तम	60	40
हिन्दू जागरण – क्यों और कैसे?	डॉ. के वी. पालीवाल	144	75
संघ उत्सव	संकलित	52	25
मैक्समूलर द्वारा वेदों का विकृतिकरण	डॉ. के वी. पालीवाल	124	70
श्री गुरुजी – परिचय एवं व्यक्तित्व	डॉ. जागेश्वर पटले	80	35
वेदों में राष्ट्र भक्ति	डॉ. के वी. पालीवाल	56	40
सूफ़ियों द्वारा भारत का इस्लामीकरण	पुरूषोत्तम	36	25
प्रेरक बाल कथाएँ	श्रीनिवास वत्स	72	40
लघु बाल कथाएँ	श्रीनिवास वत्स	40	15
अनमोल कहानियाँ	वचनेश त्रिपाठी	60	30
पंचतंत्र की कथाएँ	डॉ. के. एस. रंगप्पा	60	35
मीठे बोल कथा अन्मोल	वचनेश त्रिपाठी	64	35
छद्म सेक्यूलरवादियों और इस्लाम का असली चेहरा	कृष्णास्वामी	54	30
गुरुजी-पटेल-नेहरु पत्र व्यवहार	संकलित	44	25
सर्वोच्च न्यायालय का ऐतिहासिक निर्णय – हिन्दुत्व एक जीवन-पद्धति	संकलित	64	35
भारत वन्दना	संकलित	136	35
मातृ वन्दना	संकलित	124	35
हिन्दु नवोत्थान	मोहनराव भागवत (बौद्धिक)	32	20
हिन्दू राष्ट्र क्यों ?	हो. वे. शेषाद्रि	80	40
नरेन्द्र मोदी के सपनों का भारत (His Insightful Speeches)		80	50
श्री गुरुजी – दृष्टि और दर्शन	संकलित	360	140
संघ का आह्वान – जगे राष्ट्र पुरुषार्थ	मोहनराव भागवत (बौद्धिक)	24	22
देश की ज्वलंत समस्याएँ एवं समाधान	श्रीगुरुजी (प्रैसवार्ता)	72	40
आओ जानें भारत	जगदीश तोमर	72	40
माँ! अब तो खोलो द्वार	गो. नी. दाण्डेकर	264	120
प्रखर राष्ट्रभक्त डॉ. भीमराव अम्बेडकर	सी. एस. भण्डारी	136	70
श्री अरविन्द का राष्ट्र को आह्वान	देवदत्त	88	50
भारत का संक्षिप्त इतिहास	डॉ. सतीश चन्द्र मित्तल	40	35
महर्षि वाल्मीकीकृत श्री रामसंवाद (Shri Ram's Discourses)		192	110
Hindu Resurgence in Indonesia	V. Ravi Kumar	80	140

पुस्तक नाम	लेखक	(पृष्ठ)	मूल्य(रु)
Eminent Indians on Islam	Dr. K.V. Paliwal	100	55
Punya-Bhoomi Bharat	Jugal Kishor Sharma	128	70
Islamization of India by the Sufis	Purushottam	36	25
Challenges before the Hindus	Dr. K.V. Paliwal	68	45
कम्युनिस्ट आतंकवाद	तरुण विजय	214	100
Untouchability Alien to Hindu Dharma	Dr. K.V. Paliwal	168	80
Jammu & Kashmir-A State in Turbulence	Narender Sehgal	318 PB/HB	120/200
RSS At a Glance	Dr. Suresh Chandra Bajpai	40	20
The Supreme Court Judgement -on 'Hindutva A Way of Life'	M. Rama Jois	64	35
Scientific Outlook of Hindu Dharma	K. S. Sudarshan	32	20
Why Hindu Rashtra ?	H.V. Seshadri	52	30
संगठित हिन्दू-समर्थ भारत	मोहनराव भागवत (बौद्धिक)	40	25
हिन्दू मानसिकता	दत्तोपन्त ठेगड़ी	48	25
समन्वय संकल्पना	मोहनराव भागवत (बौद्धिक)	36	22
डॉ. अम्बेडकर की दृष्टि में मुस्लिम कट्टरवाद	एस. के. अग्रवाल	64	25
श्री गुरुजी -एक अनोखा नेतृत्व	मा. गो. वैद्य	64	40
दरिया भवानी	जी. एस. दाण्डेकर	236	110
दास बोध	विजय कुमार	64	25
स्वराज्य-संस्थापक शिवाजी-1	दि.वि. पातुरकर, आनन्द आदीश	128	30
स्वराज्य-संस्थापक शिवाजी-2	दि.वि. पातुरकर, आनन्द आदीश	128	30
गोरक्षा - राष्ट्र रक्षा गोसेवा - जनसेवा	डॉ. गौरीशंकर भारद्वाज	88	45
जीवन मूल्य - 1	प्र. ग. सहस्रबुद्धे	154	60
जीवन मूल्य - 2	प्र. ग. सहस्रबुद्धे	150	60
जीवन मूल्य - 3	प्र. ग. सहस्रबुद्धे	162	60
भगवान् श्री कृष्ण-1 प्रादुर्भाव और पराक्रम	बाल शास्त्री हरदास	144	25
भगवान् श्री कृष्ण-2 विलक्षण नेतृत्व	बाल शास्त्री हरदास	194	80
भगवान् श्री कृष्ण-1 तत्त्वज्ञ धर्मसंस्थापक	बाल शास्त्री हरदास	128	65
मानव जीवन के चार सोपान एवं हिन्दू संस्कृति	प्राणनाथ पंकज	104	45
नाभिकीय अस्त्र सम्पन्न भारत	डॉ. ओम प्रकाश पहुजा	112	40
ॐ राष्ट्राय स्वाहा	मृणालिनी जोशी	176	25
रामसेतु रक्षतु	डॉ. हरिश्चन्द्र बर्थ्वाल	75	10

पुस्तक विवरण की तिथि नीचे अंकित है। इस तिथि सहित 30वें दिन यह पुस्तक पुस्तकालय में वापस आ जानी चाहिए। अन्यथा 50 पैसे प्रतिदिन के हिसाब से विलम्ब शुल्क लगेगा।

9 MAR 2018 B16417	



पं. दीनदयाल उपाध्याय – विचार–दर्शन

सादा जीवन और उच्च विचार की जीती जागती प्रतिमा- पण्डित दीनदयाल उपाध्याय के व्यक्तित्व और कर्तृत्व पर काफी कुछ लिखा जा चुका है।

किन्तु जितनी गहराई और विस्तार में जाकर श्री दत्तोपन्त ठेंगडी, श्री नेने, श्री भिशीकर, श्री केलकर, श्री कुलकर्णी, श्री जोग तथा श्री देवधर ने उपाध्याय जी के मूलभूत चिन्तन के विविध पहलुओं को, स्थायी और तात्कालिक, दोनों परिप्रेक्ष्यों में, प्रभावी रीति से प्रस्तुत किया है, वह वस्तुतः अभिनन्दनीय है।

उपाध्याय जी के 'विचार-दर्शन' पर प्रकाशित ये सात खण्ड प्रत्येक सामाजिक-राजनीतिक कार्यकर्ता के पठन, मनन और चिन्तन का विषय होने चाहिए।

(अटल विहारी वाजपेयी)

खण्ड नाम और विषय	लेखक
1. तत्त्व जिज्ञासा (अनुवर्ती 6 खण्डों की प्रस्तावना स्वरूप स्वतंत्र विवेचन)	श्री दत्तोपन्त ठेंगडी
2. एकात्म मानव दर्शन (एकात्म मानववाद का व्याख्यात्मक विवेचन)	श्री वी. वी. नेने
3. राजनीतिक चिन्तन (दीनदयाल जी से उनके अनुयायियों को उत्तराधिकार में मिली राजनीतिक पद्धति)	श्री भा. कृ. केलकर
4. एकात्म अर्थनीति (एकात्म मानववाद पर आधारित आर्थिक नीति)	श्री शरद अ. कुलकर्णी
5. राष्ट्र की अवधारणा (दीनदयाल जी के राष्ट्रविषयक विचारों का विशद परिप्रेक्ष्य)	श्री सी. पी. भिशीकर
6. राजनीति राष्ट्र के लिये (राज्य और राजनीति साध्य नहीं, मात्र साधक हैं। साध्य है राष्ट्र का परम वैभव)	श्री व. ना. जोग
7. व्यक्ति-दर्शन (दीनदयाल जी के अति सरल, किन्तु विलक्षण बुद्धिमान, त्यागमूर्ति, आत्मीय व्यक्तित्व की झाँकी, उन्हीं के विचार-संकलन सहित)	श्री वि. ना. देवधर



सुरुचि प्रकाशन
केशव कुंज, झण्डेवाला, नई दिल्ली-110055

मूल्य : ₹ 80

ISBN : 978-93-81500-70-5

Email : suruchiprakashan@gmail.com Website : www.suruchiprakashan.in